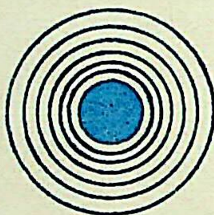
पञ्चामृत

[१९५५ से ६३ तक 'भूदान-यज्ञ' में प्रकाशित]

सङ्कलन एवं विविध लेख



विमला

10·3

पञ्चामृत

[–१९५५ से ६३ तक 'भूदान-यज्ञ' में प्रकाशित–]

सङ्कलन एवं विविध लेख



विमला

शिवकुटी, आबू पर्वत, ३०७५०१

संयुक्त संस्करण—प्रथम
जनवरी १९९१

देय—२०/-

मुद्रक :—
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहर नगर, वाराणसी

निवेदन

परम श्रद्धेया "दीदी"—विमलाजी—द्वारा लिखे गये लेख एवं उनके निजी स्वाध्याय के नवनीत-रूप सङ्कलन जो उन्हीं की लेखनी से (१९५४ से ६३ तक) अङ्कित व सज्जित होकर (जब तक वे भूदान-आन्दोलन में सक्रिय रूप से सम्मिलित रहीं एवं फिर ६३ में आबू जाकर जीवन के अन्तः प्रवाही स्रोत में प्रतिष्ठित होकर तदनुसार रहने लगीं—तब तक) 'भूदानयज्ञ'—पत्रिका में प्रकाशित होते रहे थे, कुछ स्वतन्त्र पुस्तिकाओं के रूप में भी प्रकाशित हुए थे, फिर क्रमशः सर्वथा अप्राप्य हो गये थे, उन सबको 'भूदानयज्ञ' की ही पुरानी पंजिकाओं में से एकत्र करके पुनः भारत के सम्मुख लाने की प्रेरणा इस हृदय में अन्तर्यामी प्रभु ने दी। अपने भारत की वर्तमान अधिकांश प्रौढ़-युवा-किशोर-बालक पीढ़ियों की स्थिति आज दिङ्मूढ़ (कोई राह न सूझने वाली) और अतिशय भ्रामक परिवेश तथा वातावरण के कारण भटका कर बरबाद करने वाली दिखती है। ऐसे में श्र० दीदी की विमल-प्रेरणा-भरी वाणी जीवनोत्सुक हृदयों में अवश्य ही उत्साह बल एवं श्रद्धा का सञ्चार करते हुए जीवन जीने की दिशा दिखायेगी ऐसा गहरा विश्वास है।

यद्यपि पुनः १९६८ से अब तक श्र० दीदी के द्वारा सतत चल रही विविध प्रकार की मानव-सेवाओं की गूँज के रूप में भारतीय एवं विदेशी अनेक भाषाओं में उनकी वाणी प्रकाशित होती आई है, होती रहेगी, फिर भी उनकी युवावस्था में उनके द्वारा जो कार्य हुए—अपने अध्ययन का प्रसाद जिस प्रकार जन-सुलभ कराया गया—वह आज की युवा पीढ़ी के लिये विशेष प्रेरणाप्रद अवश्य होगा। क्योंकि दिखाई देता है कि आजकी अधिकांश नई पीढ़ी (प्रायः ५० वर्ष के प्रौढ़ों से लेकर १२ वर्ष के किशोरों तक) में अध्ययन का रस नहीं, अपनी भारतीय एवं वैश्विक सांस्कृतिक विरासत से बेखबर होने के कारण मानसिक-बौद्धिक कंगाली है, इसीलिये आहार-विहार-विचार-भाषा में कहीं तरतीब नहीं, संस्कारिता नहीं। ऐसे में श्र० दीदी की यह वाणी सर्वतोमुख शुभ संस्कार-सिञ्चन करेगी ऐसी आशा है।

भूदान-सम्बन्धी एवं अन्य विविध लेखों का तीन संकलनों में प्रकाशन एक-साथ किया जा रहा है—

१—भूदान-दीपिका एवं भूदान-सम्बन्धी अन्य लेख, यात्रासंस्मरण, श्र० दादा धर्माधिकारी के 'नख-दर्पण'—सहित।

२—पञ्चामृत—श्र० दीदी का स्वाध्याय-नवनीत एवं विविध लेख,

३—साम्ययोग—साम्यवाद एवं साम्ययोग-विषयक लेख, तत्सम्बन्धी कवितायें।

इनमें कहीं-कहीं 'पृष्ठ-पूर्ति' के लिये श्र० दीदी के ही पुराने-नये लेखनों में से, 'मौन के अनुनाद, 'पावक स्फुलिङ्ग' 'सख्य संवाद' 'युग की माँग' आदि अब अनुपलब्ध पुस्तकों में से कुछ अंश भी उद्‌धृत हुए हैं।

इसी पुनः प्रकाशन-प्रक्रम में श्र० ''दीदी'' के द्वारा ही उसी अवधि (१९५६-६०) में लिखित, सम्पादित व सर्वसेवासंघ द्वारा प्रकाशित श्र० दादा धर्माधिकारो जी के लेखों की पुस्तिकायें भी इसी वर्ष क्रमशः प्रकाशित होंगी।

इन सभी नव-संकलित-संस्करणों में श्र० दीदी का नामोल्लेख उसी प्रकार का रहने दिया गया है जैसा प्राचीन प्रकाशनों के समय था। (कहीं 'विमला', कहीं 'विमलाबहन' तो कहीं 'विमलताई'—जैसा कि उन दिनों में उन्हें सम्बोधित किया जाता था एवं स्वयं 'दीदी' द्वारा लिखा जाता था।)

इन सभी प्रकाशनों के लिये बड़े मनोयोग एवं मुस्तैदी से परिश्रम में लगे वर्द्धमान मुद्रणालय के हमारे सभी भाई साधुवाद के पात्र हैं।

इन सभी नवसंस्करणों के सङ्कलन-सम्पादन-प्रूफसंशोधन एवं प्रकाशन में हुई समस्त त्रुटियों-दोषों के लिये क्षमाप्रार्थी—

मकरसङ्क्रान्ति — श्र० ''दीदी'' की ही एक
१९९१ — स्मृतिजीवी सन्तान

अनुक्रमणी

पञ्चामृत

विनोबा ने कहा—हम विश्वमानव हैं, किसी देशविशेष के अभिमानी नहीं, किसी धर्मविशेष के आग्रही नहीं, किसी सम्प्रदाय या जातिविशेष के बन्दी नहीं। विश्व के सद्विचार-उद्यान में विहार करना हमारा स्वाध्याय होगा, सद्विचारों को आत्मसात् करना हमारा अभ्यास होगा, और विरोधों का निराकरण करना हमारा धर्म होगा। विशेषताओं में सामंजस्य करके विश्व-वृत्ति का विकास करना हमारी वैचारिक साधना होगी। इस दृष्टि से विहार करते हुए सर्वोदय के लिए जो पूरक एवं पोषक सुविचार हमारे दृष्टिपथ में आये, उनसे बना हुआ यह 'पञ्चामृत' 'भूदान-यज्ञ' के पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

भूदान-यज्ञ, ३० नवम्बर, १९५६ —विमला

पञ्चामृत

"निमित्तमात्रं भव !"

भूदानयज्ञ-आन्दोलन को जन-आधारित बनाने की आकांक्षा लगभग ९-१० महीनों से कार्यकर्ताओं के हृदय में निरन्तर उठती रही है। उसे जन-आधारित बनाने के लिए जनता में प्रेरणा जागृत करते हुए कार्यकर्ता और भूदानयज्ञ-समितियों तथा दूसरे भूदान से सम्बन्धित संगठन, आत्मविसर्जन की तरफ कदम किस प्रकार बढ़ायें, इसका चिंतन जारी है। कुछ प्रयत्न भी शुरू हो गये हैं। जन-आन्दोलन बनाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता समर्पण-वृत्ति की है। प्रयत्न हमारा है, परन्तु सारा कर्तृत्व और प्रेरणा अन्तर्यामी भगवान् की है। यह वृत्ति कार्यकर्ता में अंकुरित होनी चाहिए। श्री अरविंद के निम्नलिखित विचार हमारे लिए मार्गदर्शक साबित होंगे :—

"सभी आन्दोलनों में मानवीय समाज द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक महान् कार्य में स्वयम् कालपुरुष ही कार्य करता है। भारत में 'काल' कहते हैं, उसी को यूरोप में, ट्साईट्गाइस्ट' (Zeitgeist) नाम से पहचानते हैं। (Zeitgeist Time Spirit) कालात्मा, इस नाम में भी बहुत गहरा अर्थ है। व्यक्ति, संस्था और आन्दोलन मानो निरन्तर उठने वाली लहरें हैं, तरंगें हैं। उनके द्वारा अपने आपको व्यक्त करने वाली, सबकी माता और सर्व-संहारक शक्तिरूपिणी काली माता ही मानव-जाति के अभ्यन्तर में गुप्त रहती हुई कार्य करती है। महा-

काल ईश्वर उसके भीतर का अन्तःस्थित आत्मा है। वह उसकी शक्तिरूपिणी है और वही सर्वत्र संचारित है। संसार की प्रगति वही निर्धारित करती है और राष्ट्रों का नियम वही बनाती है। अन्तःस्थित आत्मा की प्रेरणा काल में व्यक्त होती है और अनेक बार इस अन्तःस्थित आत्मा से गति अथवा प्रेरणा पाने पर काल और महाशक्ति सारा भार अपने ऊपर उठा लेते हैं, कार्य के लिए सारी पूर्व तैयारी करते हैं, कार्य को परिपक्व करते हैं और उसे सम्पूर्ण सफल भी करते हैं। 'ट्साईट्गाइस्ट,' अर्थात् काल में स्थित ईश्वर, जब एक निश्चित दिशा में कार्य की प्रेरणा देता है, उस समय उस ईश-नियोजित हेतु की पूर्ति के लिए प्रवर्तित कार्य-प्रवाह में आकर मिलने के लिए और उसे सफल बनाने के लिए संसार के सारे शक्ति-प्रवाहों का मानों आवाहन ही किया जाता है। जो प्रवाह बुद्धिपूर्वक सहायता करता है, उसके कारण तो कार्य की प्रगति होती ही है, लेकिन उसका विरोध हो, तो वह कार्य और भी अधिक पनपता है। पवनान्दोलित सागर की सतह पर क्षण भर में ऊँची उठ कर क्षणार्ध में नीचे गिरने वाली लहर की तरह गुप्त मूल स्रोत की यह प्रेरणा कभी विजय तथा वैभव के शिखर पर चढ़ती है और कभी अनुत्साह और पराजय के गर्त में गिर जाती है। फिर भी पूर्व-निर्धारित कार्य-सिद्धि के लिए उसका प्रभाव आगे-आगे ही दौड़ता रहता है। मनुष्य चाहे सहायता करे, चाहे विरोध करे, कालपुरुष कार्य करता ही रहता है, उसे साकार बनाता है अथवा उस पर अपना प्रभाव डाल कर उसे दृढ़ करता है।

महान् घटनाएँ महान् व्यक्ति अपनी शक्ति के भरोसे घटित नहीं कर सकते। वे उस महान् शक्ति के केवल साधन मात्र हैं, जिसने उन्हें अपने कार्य के उपयोग के लिए विशेष रूप से गढ़ा है। इस तरह साधन-रूप बनने में ही महान् व्यक्तियों की महत्ता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी विशेष महान् कार्य की नींव विशिष्ट ने डाली हो। इसलिए यदि वे व्यक्ति गर्व से कहने लगें कि ये महान् घटनाएँ हमारे द्वारा घटित हुई हैं, तो वे व्यक्ति काल के मुख में तिरोहित हो जाते हैं उनकी भग्न कीर्ति को पैरों तले रौंदते हुए दूसरे व्यक्ति आगे कूच करते हैं। अन्तःस्थित काली की शक्ति से जो कोई वेग से बढ़ते चले जाते हैं और दैव के चक्कर में नहीं पड़ते, केवल वे ही जीवित रहते हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति की ही महत्ता वास्तव में अन्तःस्थित सनातन शक्ति की महत्ता होती है।"

(संकलन)



अपना कर्तव्य करते रहो

आजकल सभी लोग अपने कर्तव्य की कम और दूसरों के कर्तव्य की अधिक चिन्ता करते हैं। अगर सभी लोग यह सोचें कि दूसरे लोगों के कर्तव्य पूरा करने पर वे कर्तव्य का पालन करेंगे, तो कोई भी समस्या हल नहीं होगी।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्यजी ने कहा है कि गाँधीजी के जीवन से हमें एक महान् शिक्षा मिलती है और वह यह कि हम अपने स्नेह में कमी न आने दें—चाहे हमें वह व्यक्ति स्नेह करे या न करे। यदि हम इस सिद्धान्त को मानने लग जायँ कि हम दूसरों के साथ तभी अच्छा बर्ताव करेंगे, जब वह भी हमारे साथ अच्छा बर्ताव करेगा, तो इससे अव्यवस्था फैलेगी। दूसरों के कर्तव्यों की चिन्ता न कर अपना कर्तव्य करते रहने पर शिक्षा के क्षेत्र की सारी अशान्ति और सारी बुराइयाँ दूर हो जायेंगी।

—डॉ० महाजनी

(पत्रों से) (उपकुलपति, दिल्ली-विश्वविद्यालय)

अनोखा त्रिवेणी-संगम

प्रयाग में तीन पवित्र नदियों का संगम हुआ है—गंगा, यमुना और सरस्वती। किसी समय एक भक्त ने प्रयाग में जाकर घोर तपस्या की। भगवान् प्रसन्न होकर उसको दर्शन देने पधारे।

भगवान् ने भक्त से कहा—"हे वत्स ! तुम्हारी तपस्या से मैं प्रसन्न हुआ हूँ। अतः मुझसे चाहे जो वरदान माँग लो।"

"भक्त ने कहा—"भगवान्, मुझे त्रिवेणी-संगम चाहिए।" भगवान् कहने लगे—"क्या पागल हो गये हो ? यह रहा त्रिवेणी-संगम तुम्हारे सामने ! अब कौन सा दूसरा त्रिवेणी-संगम चाहते हो ?" भक्त ने कहा—"मैं ऐसा त्रिवेणी-संगम चाहता हूँ जो निरन्तर मेरे हृदय में रहेगा।" भगवान् ने कहा—"तथास्तु ! तुम्हारे हृदय में ज्ञान-प्रकाश की निर्मल गंगा, अन्तःसमाधान की यमुना और दिव्य सुख की सरस्वती का त्रिवेणीसंगम सदैव रहेगा।"

भक्त ने कहा—"इससे अधिक मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। वह त्रिवेणी ही आपके मन्दिर का रास्ता है। उस रास्ते से मैं आपके मन्दिर में एक न एक दिन अवश्य पहुँच जाऊँगा। आपकी पूजा करूँगा। आपके श्रीचरणों में लीन होऊँगा।"

तात्पर्य—भीतरी लाभ ही सच्चा लाभ है। उस लाभ के आधार पर अन्य सारे वाञ्छित लाभ प्राप्त हो सकते हैं। कहा भी है—

"योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।"

(श्रीमद्भगद्गीता)

(मराठी से अनूदित) —शिवाजी भावे

कृष्णमूर्ति और आज का शिक्षण

हमने अपनी आज की सभ्यता में जीवन को इतने विभागों में बाँट दिया है कि कोई खास हुनर, फन या पेशा सीखने के सिवा शिक्षण में बहुत थोड़ा मतलब रह गया है। व्यक्ति की बुद्धि में सामंजस्य जागृत करने के बदले शिक्षण उसे एक ढर्रे के मुताबिक चलने के लिए उत्तेजन देता है। इस तरह आज का शिक्षण हरेक व्यक्ति को यह समझने से रोकता है कि उसका जीवन एक समग्र प्रक्रिया है। जीवन के अनेक मसलों को अलग-अलग श्रेणियों में बाँटकर उनको अलग-अलग भूमिका से हल करने की कोशिश करना, आकलन-शक्ति के नितान्त अभाव का लक्षण है। मनुष्य का व्यक्तित्व तरह-तरह की इकाइयों से बना है, लेकिन उनके फर्ज पर ज़ोर देने से और किसी एक खास ढंग के व्यक्तित्व के विकास को उत्तेजन देने से बहुत-सी उलझनें और परस्पर-विरोध पैदा होते हैं। शिक्षण को चाहिए कि व्यक्तित्व की इन सारी इकाइयों में सामञ्जस्य कायम करे, क्योंकि सामञ्जस्य के बिना जोवन दुःखों का का और संघर्षों का एक ताँता बन जाता है। अगर हम कानूनबाज़ी को चिरस्थायी होने दें, तो वकालत सीखने की क्या कीमत है? हमारे दिमाग़ में गड़बड़ी बनी रहे तो, ज्ञान की क्या कीमत है? औद्योगिक और व्यावसायिक क्षमता का उपयोग हम अगर एक-दूसरे के नाश के लिए करें, तो उसका क्या महत्त्व है? हमारी ज़िन्दगी का नतीजा अगर हिंसा और एकांत दुःख में हो, तो जोने से क्या मतलब है? हमारे पास पैसा भले ही हो, हम उसे कमा भले ही सकें, हमें सुख-चैन का सारा सामान और अच्छी तरह से संगठित साम्प्रदायिक धर्म भले ही प्राप्त हुए हों, फिर भो हम निरन्तर रगड़-झगड़ में ही रहेंगे।

(अंग्रेजी से अनूदित) —जे० कृष्णमूर्ति

बर्ट्रेंड रसेल के साथ

स्वस्थ भाव से बैठने पर हमने लार्ड रसेल से प्रथम प्रश्न किया—"क्या आप नेहरू की विदेश-नीति को विश्व-शान्ति स्थापना में सहायक मानते हैं ?" उत्तर में श्री रसेल ने कहा—"निश्चय ही। मैं तो समझता हूँ कि भारतवर्ष किसी एक पक्ष के साथ न जुड़ कर बहुत उपयोगी कार्य कर रहा है। सन् १९५१ में जब मैं कुछ देर के लिए कलकत्ता में था, तो पत्रकारों ने मुझसे यही उत्तर सुन कर आश्चर्य प्रकट किया था। उनका ख्याल था कि मैं भारत की स्वतंत्र नीति की कड़ी आलोचना करूँगा और उसे पश्चिमी राष्ट्रों के साथ गठबन्धन करने की सलाह दूँगा। इसके विपरीत मैंने भारत की शिविर-विहीन विदेश-नीति की प्रशंसा की और अब भी मेरी राय है कि उसे किसी एक का पक्ष नहीं लेना चाहिए।"

प्रश्न : आधुनिक भारत की आन्तरिक प्रवृत्तियों पर आपकी क्या राय है ?

उत्तर : जैसा मैंने कहा, मैं उसकी स्वतन्त्र और शान्ति-प्रिय विदेश-नीति को काफ़ी पसन्द करता हूँ। दूसरे, देश के औद्योगीकरण की और आधुनिक ढंग पर उनके विकास की योजनाएँ भी मुझे काफ़ी पसन्द और प्रिय हैं—विशेषतः इसलिए कि वे साम्यवादी नहीं, प्रजातन्त्रवादी हैं। संतति-नियमन के प्रति उसकी जागरूकता भी श्लाघ्य है। एक विशाल जनसंख्या वाले देश के लिए जहाँ पर्याप्त अन्न नहीं, संतति-नियमन अति महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न : अच्छा, अब आप यह भी बताइये कि भारत में आपको क्या उचित नहीं लगता ?

उत्तर : कुछ भारतीयों का प्रायः यह विश्वास है कि संसार के अन्य लोगों से वे अधिक नैतिक हैं ! यह मुझे बड़ा अखरता है।

यह गलत है। जीवन की कई समस्याओं पर उनका दृष्टिकोण अभी तक अपरिपक्व है।

अन्त में उन्होंने हृदय के अगाध स्नेह को उँडेलते हुए कहा— "अपने आपको सर्वप्रथम मानव मानना सीखिये। वर्गभेद की कोई काई मन पर मत जमने दीजिये। अपने व्यक्तित्व में पुरुष अथवा नारी का विग्रह विभेद भी मत मानिये। अपने को आदि, अन्त और सर्वत्र मनुष्य ही समझिये। अपनी ही मूर्खता के फल-स्वरूप समस्त मानवता पर विपत्ति की घटाएँ सघन हो रही हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इससे बचें और मानवता को बचायें।"

(हिन्दी 'नवनीत' से) —डॉ आनंद हेमगिरि

एक बार एक पकोड़ीवाले के पास लोगों ने प्रार्थनापत्र भेजा कि वह गाँव का मुखिया बनना स्वीकार करे। पकोड़ीवाले ने कहा— "अरे भाई, मैं तो सिवा दस्तखत करने के और कुछ भी नहीं जानता। दस्तखत भी मुश्किल से, टेढ़े-मेढ़े कर लेता हूँ।" लोगों ने कहा—"इतना अधिक लिखना जानते हो, यह भी तो एक मुसीबत ही है! हम लोगों का नेतृत्व करने के लिए किसी जानकार आदमी की जरूरत नहीं है। 'सज्जन' की तो बिलकुल ही नहीं। सच तो यह है कि अनाड़ी और ओछा ही हमारे काम आ सकता है!

(गुजराती 'त्रिवेणी तीर्थ' से) —अॅरिस्टोफेनीज

बन्दी भी मनुष्य ही हैं

अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश श्री वॉरेन अभी भारत आये थे। तीन बार लगातार कैलीफोर्निया के राज्यपाल रह चुके हैं। उस अवस्था में उन्होंने बन्दियों की अवस्था में सुधार का अविराम और श्लाघ्य प्रयत्न किया है। उनकी धारणा है कि मानव की मूलभूत सत्प्रवृत्तियों को उत्प्रेरित कर बन्दियों में सभ्य जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति पैदा की जा सकती है। इस दिशा में विशेषतया उत्तर प्रदेश में बहुत काम किया गया है।

यदि बन्दी मानसिक दृष्टि से पूर्णतः विषयगामी नहीं हो चुके हैं, तो निश्चय ही उन्हें सुधारा जा सकता है। ऐसी अवस्था में कठोर और दीर्घकालिक कारावासदण्ड देकर उनका जीवन सदा के लिए चौपट करने की अपेक्षा यह कहीं आवश्यक है कि उनकी सुप्त सत्प्रवृत्तियाँ जगायी जायँ और उन्हें इस ढंग से प्रशिक्षित किया जाय कि बाहर निकलने पर वे सभ्य और सन्नागरिक की भाँति जीवन व्यतीत कर सकें।

वस्तुतः कोई जन्मना अपराधी नहीं होता, वरन् अनेक प्रकार की विरोधी परिस्थितियाँ उसे अपराध की ओर प्रवृत्त कर देती हैं। इनमें मुख्य हैं—जीवनयापन की संकटपूर्ण अवस्थाएँ और कुशिक्षा का प्रभाव, जो अधिकतर कुसङ्गतिजन्य होता है। अतएव यह आवश्यक है कि जीवन-यापन की सुव्यवस्था एवं सत्-शिक्षा का विधान कर अपराध की प्रवृत्ति समाप्त की जाय, जिसमें जड़ से ही सुधार का आरम्भ हो। (संकलित)

चीन और रूस के कम्युनिस्ट

यद्यपि रूस की कम्युनिस्ट सरकार की सहायता से ही चीन के कम्युनिस्ट अपने देश में साम्यवादी सरकार की स्थापना करने में सफल हुए, किन्तु दोनों की विचारधाराओं में तात्त्विक अन्तर है। व्यवहारिक दृष्टि से चीन के कम्युनिस्ट अपेक्षाकृत अधिक मानवतावादी, अधिक तथ्यवादी और अधिक संयत हैं। चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई के मतानुसार चीन के कम्युनिस्टों की विचारधारा में ये अन्तर हैं :—

(१) रूस में यांत्रिक और सामूहिक कृषि पर ही जोर दिया जाता है, जब कि चीन में यान्त्रिक कृषि कम-से-कम १०-१५ वर्ष तक तो करने का कोई विचार ही नहीं है।

(२) दोनों देशों में कृषि बढ़ाने और उपज में वृद्धि करने पर तो जोर है, किन्तु उसमें जहाँ इस कार्य के लिए नयी भूमि तोड़ने पर अधिक जोर है, वहाँ हमारे यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। इधर-उधर थोड़ी-बहुत नयी भूमि तोड़ी जा सकती है, किन्तु इसे व्यापक रूप हम इसलिए नहीं देना चाहते कि एक तो यह योजना व्यय-साध्य है, दूसरे आदमियों को स्थानान्तरित करके बसाने का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है।

(३) रूस में सभी किसान सामुदायिक योजना के आधीन काम करते हैं। उनका अस्तित्व पृथक् न होने से उनमें उत्साह नहीं पाया जाता। हम अपने यहाँ इस व्यवस्था के साथ उन्हें अलग से भी खेत देते हैं, जिसमें वे अपने खेतों के उत्पन्न से स्वयम् लाभ उठायें और स्वतन्त्र बाजार में अपने खेतों की उपज बेच सकें। सामुदायिक कृषि के अन्तर्गत उत्पादित मुख्य फसलें तो सरकार ले लेती है, किन्तु अन्य सामग्री खुले बाजार में बिकने की सुविधा है। इससे किसानों के मन में पर्याप्त उत्साह का भाव बना रहता है।

(४) सभी देशों के कम्युनिस्ट कहते हैं कि बढ़ती जनसंख्या का संकट तो केवल पूँजीवादी देशों के लिए है। समाजवादी देशों में तो प्रत्येक व्यक्ति काम करेगा ही। किन्तु हम ऐसा नहीं मानते, इसीलिए परिवार-नियोजन का भी हमारा आग्रह बराबर रहता है।

(—चाऊ-एन-लाई के एक भाषण से)

लुटेरा देव!

वृन्दावन में मैंने रंगनाथजी का बड़ा विशाल मन्दिर देखा, जिसमें राजमहल की तरह छः परकोट और सोने से मढ़ाया हुआ बहुत बड़ा गरुड़-खम्भ है। जहाँ देखें वहाँ कलात्मक वैभव और हीरे-मोतियों से मण्डित मूर्तियाँ! वहाँ के महात्मा ने मुझसे पूछा—"कहिये आपको यहाँ कैसा लगता है?" मैंने कहा—"बड़ा दुःख लगता है। बचपन में देखता तो मारे खुशी से नाचता, लेकिन यह सब देख दिल में तो यह दर्द उठता है कि पत्थर के देवता को तो हीरे के गहने हैं और सचेतन मूर्तियों को चिथड़े लगे हुए हैं! न मकान, न दवाइयाँ, न खाने को अन्न और न सीखने के लिए पैसा। जब हमारे छत्तीस करोड़ देवता सुख से रहेंगे, तभी इसकी शोभा है। अन्यथा इसे 'गधे-घाट' (काँजी हाउस) कहना पड़ेगा। अच्छी शिक्षा और जीवन-निर्वाह की अवस्था प्राप्त न हुई, तो लोग शैतान बनकर चोरी-डकैती करेंगे और सम्भव है, सबसे पहिले वे ऐसे मन्दिरों को ही लूट लें। अपने दुखी बच्चों की चिन्ता न करते हुए साहूकारों की तरह अगर लोगों को लूट कर ही देव इस प्रकार बड़ा बनता है, तो ऐसे लुटेरे देव की क्या कीमत रहेगी?

अर्थात् यह दोष देवता का नहीं, भक्तों का है। भिखारियों को काम में लगाने से ही देव-भक्तों की क़ीमत और इज्ज़त होगी।

देश में जब ऐसी भयानक विषमता और चढ़ा-ऊपरी बढ़ जाती है, तो समझना चाहिए कि सरकार भी अपना कर्तव्य ठीक पालन नहीं कर रही है और न भक्त ही अपनी जगह पर हैं।

('श्री गुरुदेव' से) —संत तुकड़ोजी

विरोध से अविरोध की ओर

वर्तमान समय में साम्यबोध अत्यन्त आवश्यक है। वैषम्य जगत् का स्वभाव है, किन्तु उसके हृदय में साम्य प्रतिष्ठित रहता है। बहु में एक, विभक्त में अविभक्त तथा भेद में अभेद का साक्षात्कार होना चाहिए, इसी के लिए ज्ञानी का सम्पूर्ण प्रयत्न है। साथ ही साथ इस प्रयत्न के फलस्वरूप एक में बहु, अविभक्त में विभक्त तथा अभेद में ही भेद दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अवस्था में अवश्य ही भेदाभेद से अतीत, वाक् और मनस् से अगोचर, निर्विकल्पक परम सत्य का दर्शन होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जो सत्य है, जातीय जीवन में भी वही सत्य है। यही बात समग्र मानव के लिए भी सत्य है। विरोध से अविरोध की ओर गति ही सर्वत्र उद्देश्य रहना चाहिए।

("बौद्धधर्म-दर्शन" से) —गोपीनाथ कविराज



विश्वास एकतरफा ही होता है !

पीड़ित रुग्ण व्यक्ति जब आपरेशन के समय आँखें मूंद कर डाक्टर के हाथ में आत्मसमर्पण करता है, तब विश्वास एकतरफा ही होता है। पीड़ित के विश्वास के अनुरूप जमानत डॉक्टर से कोई नहीं तलब करता और तलब करने पर भी वह नहीं मिलती। चिकित्सक की अभिज्ञता, पारदर्शिता, उसकी साधु सत् इच्छा ही एकमात्र जमानत है और वह सम्पूर्ण रूप से उसी के अपने हाथ में है। वह दूसरे को दी नहीं जा सकती। रोगी को अपने ही कल्याण के लिए, अपने ही प्राण बचाने के लिए डॉक्टर का विश्वास करना होता है। इस पक्ष से भी इसका प्रत्युत्तर हो सकता है कि यह उदाहरण में ही चलता है, वास्तव में नहीं चलता।

बिना संकोच के आत्मसमर्पण करने की भी जमानत है, किन्तु वह कहीं बड़ी है और उसे चिकित्सक के हृदय में बैठ कर स्वयं भगवा नलेते हैं। उनके लेने का दिन जब आता है, तब न चकमा चलता न्है, बहस चलती है। इसी से जान पड़ता है, सब छोड़ कर महात्माजी ने राजशक्ति के हृदय पर ही जोर दिया था। मारकाट, खून-खराबी, अस्त्र-शस्त्र अथवा बाहुबल की ओर ही वह नहीं गये, उनका सारा निवेदन-आवेदन, अभियोग-अनुयोग इसी आत्मा के निकट है। राजशक्ति में हृदय या आत्मा की कोई झंझट नहीं भी रह सकती है, किंतु इस शक्ति का संचालन जो करते हैं, उन लोगों ने भी छुटकारा नहीं पाया, और सहानुभूति ही जब जीव के सब सुख-दु:ख, सब ज्ञान, सब कर्मों का आधार है, तब इसी को जगाने के लिए महात्माजी ने प्राणपण से प्रयत्न किया था। आज स्वार्थ और अनाचार से यह सहानुभूति चाहे जितनी मलिन, चाहे जितनी ढँकी हुई क्यों न हो, एक दिन इसे वह निर्मल और मुक्त कर सकेंगे, यह

उनका अटल विश्वास क्षण भर के लिए भी ढीला नहीं हुआ। किंतु लोभ और मोह से स्वार्थ को, क्रोध और विद्वेष से हिंसा को निवृत्त या बन्द नहीं किया जा सकता। इसी से दुःख देकर नहीं–दुःख सह कर, वध करके नहीं, अकुण्ठित चित्त से अपनी बलि देने के लिए ही वह इस धर्मयुद्ध में उतरे थे। यही थी उनकी तपस्या, इसी को उन्होंने वीर का धर्म कह कर निष्कपट भाव से इसका प्रचार किया था। सारे पृथ्वी-मंडल में यह जो उद्धत अविचार की चक्की में मनुष्य दिन-रात पिस कर मर रहा है, इसका एकमात्र हल गोली-गोले, बन्दूक, बारूद और तोप में नहीं है; है केवल मनुष्य की प्रीति में, इसकी आत्मा की उपलब्धि में—इस परम सत्य पर वे सम्पूर्ण हृदय से विश्वास रखते थे। इसीसे अहिंसा-व्रत को केवल क्षण भर का उपाय मान कर नहीं, चिरजीवन का एकमात्र धर्म समझ कर उन्होंने इस भारतीय आन्दोलन को राजनीतिक न कह कर आध्यात्मिक कह कर समझाने की चेष्टा में दिन पर दिन प्राण-पण परिश्रम किया था। विपक्ष ने हँसी उड़ायी, अपने पक्ष ने अविश्वास किया, पर दोनों में से कोई उन्हें विभ्रान्त नहीं कर सका। अंग्रेजों की राजशक्ति के प्रति महात्मा का जीवन-विश्वास जाता रहा, किंतु मनुष्य-अंग्रेजों की आत्मोपलब्धि के प्रति उनका विश्वास वैसे ही स्थिर और अटल बना रहा।

("श्री शरत् निबन्धावली" से)

अपने भीतर जो परिवर्तन आता है, उसके अनुसार जीने की हिम्मत करने वाले मुट्ठीभर भी निकलें, तो हो सकता है वह क्रान्ति मनुष्य को प्रकृति व आशय से मानव बना दे। —विमला

लेनिनवाद और हृदय-परिवर्तन

"अपने विरोधियों को आतंकित करने के बजाय उनको अपने सिद्धान्त इस प्रकार समझाने चाहिएं कि उनके मन में हमारे सिद्धान्तों के प्रति आस्था उत्पन्न हो अर्थात् उनका हृदय जीतने की बात पर ही मुख्य रूप से ध्यान दिया जाय।" यह बात आज से ३६ वर्ष पूर्व लेनिन ने सोवियत केन्द्रीय समिति के राजनीतिक मण्डल विभाग को सुझायी थी, जब उसके अधीन काम करने वाले नियंत्रण आयोग के कार्यों के सम्बन्ध में समस्या उठ खड़ी हुई। अमेरिका के परराष्ट्र-विभाग द्वारा प्राप्त और प्रचारित सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की २०वीं कांग्रेस के अवसर पर पार्टी के मुख्य सचिव श्री ख़ुश्चेव द्वारा किये गये भाषण से यह रहस्य प्रकट हुआ है। श्री ख़ुश्चेव ने अपने भाषण के प्रसंग में लेनिन के अब तक छिपाये गये उस पत्र की चर्चा की है, जो उन्होंने इस सम्बन्ध में राजनीतिक मण्डल को लिखा था।)

लेनिन ने लिखा : "नियंत्रण-आयोग का एक विशेष कार्य यह है कि वह तथाकथित विरोधी पक्ष के प्रतिनिधियों से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापन करने की चेष्टा करे तथा इस बात का भी प्रयत्न करे कि उन सदस्यों के मन में जो एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक पराजय-भावना उत्पन्न हो गयी है, उसका निवारण हो सके। इस बात की चेष्टा होनी चाहिए कि उनको सम्पूर्ण वस्तुस्थिति का भान ठीक उसी विधि से कराया जाय, जिस प्रकार हम अपने साथियों को कराते हैं और उनके लिए इस प्रकार के कार्यों की व्यवस्था की जाय, जो उनकी मनःस्थिति के सर्वथा अनुकूल प्रमाणित हो। उन पर कोई बात लादने जैसी न होनी चाहिए। इस सम्बन्ध के नियम और उचित परामर्श केन्द्रीय समिति के संघटन-मण्डल द्वारा उपस्थित किये जा सकते हैं।"

हर कोई यह बात जानता है कि लेनिन मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक पहलू के विरुद्ध कुछ कहने या करने वालों के कितने प्रबल विरोधी थे। उसके साथ लेनिन की पटरी कभी नहीं बैठ सकती थी। इसके साथ ही वह उन लोगों के साथ भी किसी प्रकार के समझौते की प्रवृत्ति नहीं दिखा सकते थे, जो दल की निर्धारित नीति से विचलित हो जायँ। जैसा कि ऊपर दिये गये लेनिन के पत्र से स्पष्ट होता है, वे इस बात के इच्छुक थे और दल को सदा इस आशय के निर्देश दिया करते थे कि संशयी और दल की नीति से क्वचित् मतभेद रखने वालों के साथ गहरा सम्पर्क स्थापित करके अपने मत के अनुकूल बना लेने का प्रयत्न किया जाय। लेनिन का यह स्पष्ट मत था कि ऐसे व्यक्तियों को किसी प्रकार का दण्ड देने या उन पर किसी प्रकार का अत्याचार करने की अपेक्षा सर्वोत्तम मार्ग यही है कि उन्हें समझा-बुझा कर ठीक मार्ग पर लाया जाय।

सैनिकों के साथ जिस ढंग का व्यवहार और जिस प्रकार का कार्य लेनिन ने किया, उससे ही उनकी एतद्विषयक चातुरी और बुद्धिमत्ता का परिज्ञान हमें हो जाता है।

हमारा दल समाजवादी आधार पर लेनिन की योजनाएं कार्यान्वित करने के उद्देश्य से संघर्ष में पड़ा था। यह सैद्धान्तिक संघर्ष था। यदि इस संघर्षकाल में लेनिन के सिद्धान्तों के अनुसार काम हुआ होता, यदि दल के लोगों की निष्ठा जनहित के लिए उचित रूप से प्रयोग में लायी गयी होती, यदि विवेकपूर्वक उनका उपयोग किया गया होता तो निश्चय ही हमारी क्रान्ति पंगु न बन गयी होती। (अंग्रेजी से अनूदित)

बहुमत की हुकूमत कैसे आयी ?

इस देश में पक्ष-पद्धति (पार्टी सिस्टम) को करीब-करीब कोई नहीं समझता। ब्रिटेन के लोग उसका इतिहास तक नहीं जानते। वे समझते हैं कि उसकी जड़ें मनुष्य के स्वभाव में ही हैं और इसीलिए वह अविनाशी एवं नित्य है। जब मैं कहता हूँ कि वह हमारी म्युनिसिपैलिटियों में नहीं है, तो वे समझते हैं कि मैं अज्ञानी हूँ या सनकी। वे मुझे विश्वास दिलाते हैं कि म्युनिसिपैलिटियों तथा कारपोरेशनों में निगमों में बिल्कुल पार्लमेण्ट की तरह ही स्थितिवादी-कंजर्वेटिव और प्रगतिवादी पक्ष मौजूद हैं और राजनैतिक मनुष्य-स्वभाव के अपरिवर्तनशील नियम के अनुमार वे हमेशा मौजूद रहेंगे !

असल बात क्या है ? मैं उसे एक छोटे-से ऐतिहासिक नाट्यमय-संवाद के रूप में रखूँगा, क्योंकि मेरे लिए वह बहुत आसान है, साथ ही बहुत मनोरंजक भी।

[दृश्यः—अल्थाप, संडरलैण्ड के सरदार स्पेन्सर परिवार का निवासस्थान। उपस्थित—राजा तीसरा विलियम, उम्र ४५ वर्ष, जिसकी स्मृति बहुत उज्ज्वल, पवित्र और अमर है और उसके मेजबान रॉबर्ट स्पेन्सर, उम्र में प्रायः १० साल बड़े, राजनैतिक सूझ-बूझ और येनकेन प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करने की चातुरी के लिए इनकी शोहरत दूसरे चार्ल्स और दूसरे जेम्स के दरबार में थी।]

विलियम—"""मैं अपने मोर्चों की पेशबंदी एक साल पहले भी नहीं कर पाता, क्योंकि यह कम्बख्त ब्रिटिश पार्लमेण्ट, जो कि इंग्लैण्ड पर हुकूमत करने के लिए चुनी गयी है, वही चाहती है, जो हर अंग्रेज चाहता है—याने अपने ऊपर कोई शासन हो नहीं चाहती।""""

रॉबर्ट—····मैं आपको एक ऐसी हिकमत बतला सकता हूँ, जिसके कि पार्लमेण्ट राज्य का खर्च मंजूर करने के अलावा तथा आगामी चुनावों को टाल सके, तब तक टालते रहने के अलावा और कुछ कर ही न सके।····पार्लमेण्ट से पेश आने के लिए मेरे पास एक तरकीब है, हालाँकि उसे समझने के लायक तेज दिमाग-वाला राजा अब तक मैंने नहीं देखा।

विलियम—मुझे आजमा कर देखो।

रॉबर्ट—····आज आप अपने मंत्रियों को उनकी लियाकत और सिफत देख कर मुकर्रर करते हैं, उनकी पार्टी का ख्याल नहीं करते। यहाँ एक ह्विग को चुन लिया, वहाँ एक टोरी को। हर एक का अपना-अपना मुहकमा होता है, जिसे आप उसका केबिनट कहते हैं। इन सबकी सभा आपकी कौंसिल कहलातो है, इसे आपका केबिनेट कह सकते हैं।

विलियम—बिल्कुल ठीक। इसमें आप कौन-सा नुक्स पाते हैं ?

रॉबर्ट—हुजूरे आला को मेरी सलाह है कि आइन्दा आप अपने मंत्री एक ही पार्टी में से चुनें और यह पार्टी हमेशा वहो हो, जिसका कि हाऊस ऑफ कॉमर्स में बहुमत हो।····

····हाँ, तो मैं वायदा करता हूँ कि जिस वक्त हुजूर इस तरकीब से काम लेना शुरू कर देंगे, उसी वक्त से हाउस ऑफ कॉमर्स का एक भी सदस्य अपने सिद्धान्तों, अपनी निष्ठाओं, अपना विवेक, अपना धर्म या इसी तरह को अपनी किसी महँगी चीज के लिए कभी वोट नहीं करेगा। लोग यही समझते रहेंगे कि वह धार्मिक सहिष्णुता, युद्ध या शान्ति है; और यदि आपकी साली की संतानें मरती चली गयीं तो क्या इग्लेण्ड का मुकुट हैनोवर के मतदाता को मिलेगा ? सार्वजनिक जमीनों को अहाते लगाये जायें

या नहीं, फौजों के लिए मकानों का क्या इन्तजाम हो, खिड़कियों पर टैक्स लगे या नहीं, इसी तरह के सवाल पर वह मत दे रहा है, लेकिन असल में जिस सवाल पर वह हमेशा वोट देगा, वह सवाल होगा कि मेरी पार्टी की हुकूमत बनी रहेगी या नहीं और कहीं मुझे दूसरे चुनाव के लिए अपनी आधी जायदाद तो नहीं खर्च करनी होगी ? यह ख्याल भी उसे परेशान करता रहेगा कि यदि फिर से चुनाव हुआ और मेरे विरोधी उम्मीदवार के पास कहीं ज्यादा पैसा हुआ, तो मेरी जगह चली न जाय ?····

विलियम—तुम तो मेरे लिए जाल बिछा रहे हो। तुम तो कॉमर्स सभा के बहुमत को असली राजा बनाना चाहते हो और असली राजा को महज कठपुतली। बहुमत तो तुम्हारी नई बातें बनाने में चतुर किसी भी महत्वाकांक्षी, युक्तिबाज़ आदमी के हाथ में अपनी नकेल दे देता है। ऐसा कोई भी शख्स मुझ पर इस तरह हुक्म चलायेगा, मानों वही राजा हो और मैं सिफर।

रॉबर्ट—····मैं आपको एक और भी वचन देता हूं। अगर मेरी इस सलाह के मुताबिक कार्यवाही करें, तो बहादुर से बहादुर और क़ाबिल से काबिल व्यक्ति से भी आपको कोई डर नहीं होगा, चाहे वह व्यक्ति स्वयं क्रामवेल या लिलबर्न-(सामंतवादी नेता)-ही क्यों न हों। उसे अपनी आधी उम्र और करीब-करीब सारी जायदाद पार्लियामेण्ट में पहुँचने के लिए खर्च करनी पड़ेगी और जब वह बड़ी मुश्किल से पहुँच पायेगा, तो उसे आपके मंत्रिमण्डल में दाखिल होने की फिक्र के मारे और किसी बात के बारे में सोचने के लिए फुरसत ही नहीं होगी। जब वह हिकमत से चोटी तक पहुँच जायगा, तो वह पार्टीबाजी के हथकण्डों का माहिर बन जायेगा, और कुछ नहीं।

(मूल अंग्रेजी से अनूदित) —जॉर्ज बर्नार्ड शॉ

बुलंद राष्ट्रधर्म

हमने आगामी पीढ़ियों के लिए विरासत कायम की है। उन्हें वह विरासत गौरव के साथ प्राप्त होनी चाहिए। इसकी जो बहुत थोड़ी कीमत हमें देनी पड़ेगी, उसके बदले में राज्यों का वैभव, ध्येय की भव्यता और राष्ट्रीय चारित्र्य की सम्पत्ति हमें मिलेगी। यह सौदा लाभकारी ही होगा।

परन्तु जिस विषय की तरफ विचारशील और विदारक बुद्धि-वाले सभी व्यक्तियों का ध्यान बलात् आर्कषित होगा और जिसमें अन्य सारे गौण विषयों का समावेश हो जाता है और उसका हल आसान हो जाता है, वह है—हमारे राज्यों की एकता। इस पर हमारा महान् राष्ट्रीय चारित्र्य निर्भर है। इसीसे हमको संसार में गौरव मिलेगा और देश के भीतर सुरक्षा प्राप्त होगी।

इस विशाल राज्य का पृथक्-पृथक्-राज्यों में विभाजन हमारी अपनी सुविधा के लिए है। दूसरे देशों की दृष्टि से उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। हरेक राज्य का अपना-अपना काम-काज स्थानीय है। उस राज्य की सीमा से बाहर उसकी व्याप्ति नहीं है। उनमें से जो राज्य अधिक-से-अधिक वैभवशाली है, उससे होने वाली सारी-की-सारी आमदनी भी विदेशों से हमारी स्वा-धीनता का संरक्षण करने के लिए काफी नहीं होगी। अर्थात् संयुक्त राज्य की सार्वभौम राष्ट्रीय सत्ता के सिवा हमारी दूसरी कोई राष्ट्रीय सत्ता नहीं हो सकती। ऐसी कोई दूसरी सार्वभौम राष्ट्रीय सत्ता हो भी, तो वह हमारे लिए घातक साबित होगी। उसका खर्च हमारी हैसियत के परे होगा और हम उसको निबाह नहीं सकेंगे। संयुक्त राज्य का हमारा नागरिकत्व ही हमारा चारित्र्य है। किसी भी विशिष्ट राज्य की हमारी नागरिकता हमारी स्थानीय विशेषता है। उस विशेषता से हम अपने घर में पहचाने जाते हैं, लेकिन

सारा संसार तो हमें अमेरिकन नागरिक के नाते ही पहचानता है। हमारी सबसे गौरवपूर्ण उपाधि हमारा, अमेरिकन नागरिकत्व ही है।

(अंग्रेजी से अनूदित) —टॉमस पेन

साधक के जीवन में ऐसी प्रतीति नहीं रहनी चाहिए कि अमुक समय तो साधना का है और अमुक समय साधना का नहीं है। अमुक क्रिया या प्रवृत्ति तो साधना है और अमुक नहीं। उसका तो प्रत्येक क्षण और प्रत्येक प्रवृत्ति साधनामय होनी चाहिए। जिसकी समझ में सब कुछ भगवान् का है, उसका अपना तो केवल मात्र एक भगवान् के सिवा और कुछ भी नहीं रहा। फिर उसकी कोई भी प्रवृत्ति भगवान् की सेवा से भिन्न हो ही कैसे सकती है? उसके जीवन का प्रत्येक क्षण भगवान् की प्रसन्नता के लिए, उन्हीं की दी हुई योग्यता से, उन्हीं की सेवा में लगेगा।

('एक महात्मा का प्रसाद' से)

यथार्थं में जो कुछ किसी के पास है, वह सब भगवत्-प्रदत्त है। ईश्वर तो सबमें बैठ कर विविध प्रकार की लीलाएँ करते हैं। जीवन की सबसे भारी कला ईश्वरोन्मुख होकर बढ़ने में है, सबमें आत्मीयता का अनुभव कर स्नेह करने में हैं। सुखी हृदय ही सुख दे सकता है और दुःखी हृदय दुःख देता है। भगवान् का वरदहस्त जिसने एक बार अनुभव किया है, वह भला क्यों न सुख की हँसी हँसेगा। हम हँसेंगे, तो लोगों को बाध्य होकर हमारे साथ हँसना होगा। हमारे जीवन का लक्ष्य मानव के ओठों पर मुस्कान देखना है।

(एक भाई के पत्र से)

समिति-पद्धति का रहस्य

इस रोग का सबसे प्रधान लक्षण समिति-पद्धति का कार्यान्वय है। यह साधारण-सी बात है कि उच्च श्रेणी के प्रशासक कुछ ३०-३५ समितियों में अपने को बैठा लेते हैं और प्रायः अपना आधा समय इन्हीं में लगा देते हैं। इन समितियों की बैठकों में प्रायः कुछ भी नहीं हो सकता, अतः इनमें लगाया हुआ समय एक प्रकार से निरर्थक जाता है। यह बात जान लेनी चाहिए कि यदि इस प्रकार की किसी समिति से किसी प्रश्न पर निर्णय करने की बात कही जाती है, तो या तो सारा काम उस समिति का सचिव कर लेता है या फिर एक छोटी-सी कार्यसमिति से सुझाव देने को कहा जाता है। पूरी समिति वस्तुतः कोई काम नहीं करती। वह केवल बातों के चक्कर में फँस जाती है और इसी पर विचार करतो रह जाती है कि उसके सचिव या कार्यसमिति ने क्या कहा या किया है। सच कहा जाय, तो यह समिति-पद्धति एक प्रकार से प्रशासकों की अन्तिम विजय का चिह्न है। समय नष्ट करने वाली ऐसी किसी दूसरी विधि का अब तक न तो आविष्कार हुआ है और न कदाचित् हो ही सकता है, जो मनुष्य के विवेक को पूर्णतः ध्वस्त कर दे।

("ए डीकेड आफ डिसीशन" से) —फ्रेड हॉयल

"दो विद्यायें सीखना आवश्यक हैं : एक हमारी आस-पास की चीजों को परखने की शक्ति, अर्थात् विज्ञान। दूसरी—आत्मज्ञान-पूर्वक संयम की शक्ति, अर्थात् आध्यात्म। इसके लिये बीच में निमित्तमात्र भाषा की जरूरत होती है। उतना भाषा का ज्ञान भी आवश्यक है।" —विनोबा

विश्वधर्म का अरुणोदय

"बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मानव-जाति को किन प्रमुख संघर्षों या समस्याओं का सामना करना पड़ेगा," इस अशुभ प्रश्न का उत्तर मेरी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति खतरा उठा कर ही देगा। यदि वह इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे और भविष्य की ओर से आँखें मूँद ले, तो यह और भी अधिक खतरनाक बात होगी।

मेरा उत्तर सबसे अधिक खतरों से भरा है। मेरी दृष्टि में इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि भविष्य में होने वाला बड़ा संघर्ष ऐसे तृतीय विश्व-युद्ध का रूप धारण कर लेगा, जिसमें आणविक शस्त्रास्त्रों का खुल कर प्रयोग हो। हमारे नवीन शस्त्रास्त्र दोनों पक्षों की सेनाओं और नागरिकों के लिए समान रूप से घातक सिद्ध होंगे। युद्ध सम्बन्धी परम्परागत धारणाओं में हुए उक्त दो परिवर्तन इतने क्रान्तिकारी हैं कि यदि उनके फलस्वरूप मानवजाति के आत्म-विनाश के बजाय युद्ध का पूर्णरूपेण मूलच्छेद हो जाय, तो मुझे इसमें कोई आश्चर्य न होगा।

इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि भूतकाल में युद्ध ही सभ्यताओं के पतन और विनाश के मुख्य कारण थे, यह घटना मानव-जाति के लिए एक नवीन और सुखद भविष्य की सृष्टि करेगी।

यह प्रश्न है कि आधुनिक मानव अपनी आत्मा की आध्यात्मिक रिक्तता को किस प्रकार पूरा करेगा। यह रिक्तता आधुनिक विज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। विज्ञान ने परंपरागत धार्मिक विश्वासों को उखाड़ फेंका है, परन्तु रिक्त स्थान की पूर्ति करने में वह स्वयं भी असमर्थ रहा है। विज्ञान ने मनुष्य को जड़ प्रकृति और मानव-पर नियंत्रण स्थापित करने की अत्यधिक शक्ति और क्षमता प्रदान कर दी है, लेकिन आत्म-नियंत्रण के कार्य में वह मनुष्य की कोई

सहायता नहीं कर सकता और वस्तुतः आत्म-संयम ही सदैव मनुष्य की सबसे अधिक महत्वपूर्ण और कठिन समस्या रही है।

आज इसकी विशेष रूप से इसलिए आवश्यकता है कि जड़ प्रकृति पर नियंत्रण करने की क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। वह उस युवक के समान है जिसने प्रौढ़ व्यक्तियों के शस्त्रास्त्र तो धारण कर लिए हैं, परन्तु जिसका मस्तिष्क अभी परिपक्व नहीं हुआ है। ऐसा युवक अपने साथियों और स्वयं अपने लिए उस समय तक खतरा बना रहेगा, जब तक वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी उतना ही साधन-सम्पन्न और उन्नत न हो जाय।

लेकिन आध्यात्मिक परिपक्वता विज्ञान के द्वारा नहीं, बल्कि धर्म के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए मुझे यह आशा है कि बीसवीं सदी का मानव पुनः सच्चे धर्म की खोज में निकल पड़ेगा और मुझे विश्वास है कि वह धर्म को खोज लेगा। लेकिन मेरा यह भी विश्वास है कि यह धर्म परम्परागत धर्म से इतना भिन्न होगा कि पहली दृष्टि में मानव के इस नये धर्म को पहचाना भी नहीं जा सकेगा। —आर्नोल्ड ट्वायनबी

नेहरूजी की गंभीर चेतावनी

गत १६ नवम्बर को प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में घोषित किया कि इस बात की पूरी आशा है कि आगामी चार-पाँच वर्षों के भीतर ही हम अणुशक्ति का अच्छी तरह उपयोग करने लगेंगे। आपने कहा—"मुझे उम्मीद है कि दूसरी आणविक भट्ठी बम्बई वाली भट्ठी से कहीं अधिक शक्तिशाली होगी तथा एक वर्ष बाद यह काम करने लगेगी। नेहरूजी ने यह वक्तव्य उस गैर-सरकारी प्रस्ताव पर किये गये अपने भाषण के प्रसंग में दिया, जिसमें

उनसे कहा गया था कि विज्ञानवेत्ताओं का एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग संघटित किया जाय, जो इस बात की जाँच करे कि अणु-बमों या हाइड्रोजन-बमों के परीक्षण से कितनी क्षति हुई है। इसके साथ ही नेहरूजी से यह भी निवेदन किया गया था कि वे अपने नैतिक प्रभाव का प्रयोग कर इस प्रकार के परीक्षण करने वाले राष्ट्रों को इस काम से रोकें।

मानव के त्राण का उपाय नहीं

नेहरूजी ने कहा कि अणुअस्त्रों की वजह से जो खतरा पैदा हो गया है, उससे मानव-समाज के त्राण का कोई उपाय नहीं दीखता। वर्तमान अवस्था मानवता के लिए अच्छी नहीं प्रतीत रही है। अभी अमेरिका, ब्रिटेन और रूस के पास ही ये संहारक अस्त्र हैं और पारस्परिक विनाश के भय से वे उनका प्रयोग नहीं कर रहे हैं, किन्तु वह समय भी आने वाला है जब कि इस क्षेत्र में और प्रगति एवं अनुसन्धान होने पर कितने ही अन्य साधनहीन देश ये अस्त्र बनाने में समर्थ हो सकेंगे तथा उस समय संसार के लिए और भी खतरा बढ़ जायगा। उस अवस्था का सामना किस प्रकार किया जा सकेगा, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

नैतिक प्रभाव डालने की बात का मैं समर्थन करता हूँ। अणु-शक्ति का प्रवेश हमारे जीवन में हो चुका है। आगे चल कर इस क्षेत्र में बराबर खोज होती जायगी और इस विज्ञान का विकास होता रहेगा।

वर्तमान अवस्था खतरनाक

इस शक्ति का उपयोग किस प्रकार होगा यह मानव समाज पर, प्रयोग करने वालों के विवेक पर, उनकी आकांक्षाओं पर निर्भर है। यदि मनुष्य का सद्विवेक जागृत नहीं होता और मानव-कल्याण के लिए वह इसका प्रयोग नहीं करता, तो उसका विनाश निश्चित

है। आज हम यह बिल्कुल नहीं कह सकते कि आगे चल कर कौन सी अवस्था आयेगी तथा मानव-समाज विकास की किस दशा तक पहुँचेगा। वर्तमान अवस्था निश्चय ही बहुत आशाजनक नहीं कही जा सकती। हम अभी इतना ही कर सकते हैं कि मानवबुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया जाय, जिसमें वह निश्चित मार्ग पर चलने की बात ही सोचे।

इसके दो रास्ते हैं—एक तो भय की वृत्ति है। यह भय कि यदि अणुअस्त्रों का प्रयोग हुआ, तो मानव का विनाश निश्चित है, इसके प्रयोगकर्ताओं को इस कार्य से विरत कर सकता है। दूसरा है अन्तर्राष्ट्रीय आयोग बनाना, किन्तु वह सफल न होगा। इस प्रस्ताव के पीछे जो भावना है उससे मैं सहमत हूँ, किन्तु अन्य राष्ट्रों से सहयोग की आशा जरा कम ही है। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग तभी सफल होगा जब कि परीक्षण करने वाले राष्ट्र अपनी प्रगति के विषय में कुछ बताने को तैयार हों और इसकी ही सम्भावना बिल्कुल नहीं है।"

शुद्ध प्रजातन्त्र-पद्धति

हमने अपने शासन में प्रजातन्त्र की पद्धति स्वीकार की है। यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन काल में जनतन्त्र अथवा गणतन्त्र-प्रणाली थी, फिर भी वर्तमान प्रजातन्त्र हमने पश्चिम से ग्रहण किया है। प्रजातन्त्र के माने है लोकमत का बल। दण्ड-बल की जगह मत-बल उसका आधार है। यह पशुबल से निकल कर नैतिक बल की ओर प्रयाण है। प्रारम्भ में डण्डे के बल से अपनी माँगें मनवायी जाती थीं। बाद में नियम-विधान बने। यहाँ से सभ्यता के युग की शुरुआत हुई। लेकिन तब भी कानून एक व्यक्ति, राजा या उसका मंत्री

या मंत्रिमंडल बनाता था, अर्थात् राजशक्ति के बल पर कानून बनता था और उसका अमल दण्ड-शक्ति से होता था। यह एक व्यक्ति की इच्छा सारे समाज पर लादना था, जो कि दबाव का एक रूप है। बाद में आया प्रजातन्त्र, जिसमें एक व्यक्ति की जगह बहुमत के बल से कानून-विधान बनते हैं, जिसमें बहुमत का दबाव अल्पमत पर पड़ता है। इसमें भी अन्तिम बल तो दण्ड ही रहा। जब तक सरकार नाम की संस्था रहेगी, तब तक यही उसका आखिरी बल माना जाता रहेगा। तो क्या इस दण्ड-बल का स्थान आत्म-बल (स्वपीड़न, स्वमरण) को नहीं दिया जा सकता ? क्या ऐसा करना दबाव है ? हम अब तक दण्ड-बल को अधिकाधिक नरम करते आये हैं; क्षीण करते हुए, नैतिक बलों को प्रभावकारी बनाते आये हैं। मनुष्यता की उत्तरोत्तर उन्नति करते आ रहे हैं, सो क्या इस प्रगति और विचार-विकास को यहीं रोक दिया जाय ? यदि रोक देते हैं, तो क्या हम वास्तविक जनतन्त्र की भावना की हत्या नहीं करते ?

दण्ड-बल से लोकमत का बल श्रेष्ठ

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि दण्ड-बल की अपेक्षा लोकमत के बल से फैसला करने की पद्धति ज्यादा सभ्य, ज्यादा संस्कृत, ज्यादा उच्च और श्रेष्ठ है। फिर भी इसका अन्तिम बल दण्ड ही है। अर्थात् कानून और दण्ड-बल के सहारे ही उन फैसलों पर अमल कराया जाता है। चाहे फैसला लोकमत के ही द्वारा हुआ हो, परन्तु उसका अमल तो अदालत, पुलिस और जेल के बल पर ही होता है। अतः यह प्रजातन्त्र तब स्थापित और प्रचलित तथा रूढ़ होगा, जब हमारा अन्तिम बल भी नैतिक बल हो जाय—अर्थात् प्रायश्चित्त, बहिष्कार, आत्मपीड़न या आत्ममरण उसका स्थान ले लें।

लेकिन यह तो बहुत दूर की बात हुई। अभी जो फैसले हम

करते हैं, वे भी प्रायः बहुमत से। इसका अर्थ हुआ कि अल्पमत पर बहुमत का दवाब पड़ता है। बहुमत के फैसले अल्पमत को उनके मत और इच्छा के विरुद्ध मानने पड़ते हैं। यहीं दवाब है जब तक इस कमी को दूर न किया जाय, तब तक प्रजातन्त्र में से दबाव हट गया, ऐसा कह नहीं सकते। किसी रूप में भी दबाव से काम न लिया जाय, यह प्रजातन्त्र की प्रतिज्ञा है। इसको पूर्ण करने के लिए इस दबाव को हटाने का उपाय सोचना चाहिए।

अल्पमत का अधिकार : सत्याग्रह

पश्चिमी प्रजातन्त्र के विचारक अभी तक इसका कोई उपाय नहीं बता सके। यदि किसी ने इसके आगे कुछ सोचा है, तो गांधीजी ने या विनोबाजी ने। गांधीजी ने तो अल्पमत को सत्याग्रह का अधिकार देकर प्रजातन्त्र को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु विनोबाजी ने एकमत से निर्णय करने की प्रणाली प्रचलित करने पर जोर दिया है और इस प्रकार उस दवाब से मुक्ति पाने का उपाय किया है। उनका केवल यह सुझाव नहीं है कि फैसले एकमत से किये जायँ, बल्कि वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि जब तक एकमत से फैसला न हो, परस्पर विचार-विनिमय करते रहें, एक-दूसरे को समझाते रहें। लेकिन इस तरह फैसला टालने से तो काम नहीं चलेगा, महत्त्वपूर्ण योजनाएँ और प्रश्न अनिर्णीत ही रह जायँगे, महीनों-सालों लटकते रहेंगे। अतएव यह हल कारगर नहीं समझा जा सका। बापूजी का हल, अल्पमत का सत्याग्रह, कानून-भंग तो अन्तिम स्थिति में काम आ सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में मतदान द्वारा निर्णय की अवस्था में वह सहायक नहीं हो सकता। इस तरह बापू तथा विनोबा के सुझाव एक हद तक ही हमारा साथ देते हैं। तब क्या किया जाय?

निर्णय के आधार

मेरी समझ से एकमत पर जोर देना प्रजातन्त्र की सच्ची भावना के बिल्कुल अनुकूल है। अतः उसे सर्वोपरि मान कर ही चलना चाहिए। हम उसमें जितने सफल होंगे, उतनी ही प्रजातन्त्र की सफलता होगी और यह बहुत मुश्किल भी नहीं हैं। इसके लिए हमें : (१) सिद्धान्त और आदर्श तथा (२) योजना और कार्यक्रम, दो भाग अलग-अलग कर लेने होंगे। पहले भाग का सम्बन्ध हमारे मौलिक विश्वास, मान्यता और श्रद्धा से है, जब कि दूसरे भाग का सम्बन्ध प्रत्यक्ष व्यावहारिक बातों से है। पहले भाग में मतभेद ज्यादा मौलिक हो सकते हैं, जब कि दूसरे में क्षणिक, थोथे, कामचलाऊ, समझौता करने योग्य होते हैं। योजना और कार्यक्रम-सम्बधी मतभेदों को सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेद की श्रेणी में मान लेना हमारी भूल है और हम अक्सर यही भूल करते हैं। इसका ध्यान रखते रहें और योजना और कार्यक्रम-सम्बन्धी मतभेदों में कुछ देन-लेन की भावना से काम लें, तो फिर अधिक दिक्कत नहीं आ सकती। ऐसे अवसरों के लिए हम सब एकमत से यह अधिकार भी कार्यपालिका को दे सकते हैं कि वह तत्कालीन संकट या आवश्यकता की अवस्था में अपनी जिम्मेदारी पर कोई निर्णय कर ले। बाद में वह निर्णय सही हुआ है या नहीं, कार्यपालिका सें अपने विवेक का दुरुपयोग तो नहीं हो गया है, इसकी चर्चा या आलोचना की जा सकती है, जिससे आगे दुरुपयोग की आशंका और स्थिति न पैदा होने पावे।

इस प्रकार एकमत से निर्णय करने के सिद्धान्त के साथ यह तात्कालिक निर्णय की व्यवस्था जोड़ दी जाय, तो बहुमत से होने वाले दबाव से अल्पमत को रक्षा हो जाती है, बल्कि फिर बहुमत अल्पमत जैसा तीव्र भेद भी सहसा नहीं रह जायेगा।

मौलिक मतभेद की अवस्था

अब रहा यह प्रश्न कि मौलिक मतभेद की अवस्था में क्या किया जाय? स्पष्ट है कि एक-दूसरे पर जबरदस्ती अपना मत न लादा जाय, मतभेद को स्वीकार करते हुए अलग-अलग काम किया जाय, लेकिन परस्पर प्रेम, सहनशीलता, सद्भावना से काम लिया जाय। परमत-सहिष्णुता प्रजातंत्र का प्राण है। हम एक-दूसरे से विचार-विनिमय करते रहें, एक-दूसरे को अपना दृष्टि-बिन्दु समझाते रहें और जब तक मतभेद मिट नहीं जाता, तब तक अपना-अपना काम अलग-अलग करते रहें। मतभेद के कारण संस्था या समाज की शांति भंग न करें। मतभेद को मत-द्वेष का रूप न धारण करने दें, क्लेश और कलह उसका परिणाम न निकले। यदि दोनों पक्ष एकमात्र सत्य और औचित्य की दृष्टि से ही विचार करने वाले होंगे, विचार करेंगे, तो कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी, एक विचार पर आकर मिल जायेंगे। यदि यह परिणाम निकला, तो समझना चाहिए कि दोनों ने सत्य पा लिया, यदि नहीं निकला, मतभेद कायम रहा, तो समझना चाहिए कि अभी दोनों के हाथ आँशिक सत्य और औचित्य ही लगा है और उस दशा में दोनों को अपने सत्य और औचित्य की खोज आगे जारी रखनी चाहिए, उसे अन्तिम और एकमात्र सत्य नहीं मान लेना चाहिए।

('जीवन साहित्य' से) —हरिभाऊ उपाध्याय

आइंस्टीन और जागतिक शान्ति

[कुछ समय पूर्व सुप्रसिद्ध विद्वान् वेत्ता अलबर्ट आइंस्टीन से कुछ प्रश्न पूछे गये थे। वे प्रश्नोत्तर युद्ध और शान्ति से सम्बन्ध रखने वाले थे, अतः उनका मत स्वयं स्पष्ट है। नीचे हम वे प्रश्नोत्तर दे रहे हैं।—विमला]

प्रश्न—क्या यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि संसार का भाग्य अधर में लटक रहा है ?

उत्तर—बिल्कुल नहीं–मानव-समाज का भाग्य तो हमेशा ही अधर में लटकता रहता है, किन्तु आज उसकी जो अवस्था है, वह इतिहास के किसी ज्ञात समय में कभी नहीं रही है।

प्रश्न—परिस्थिति और समय की इस गम्भीरता की ओर हम मानव-समाज का ध्यान किस प्रकार आकृष्ट कर सकते हैं ?

उत्तर—इसका उत्तर बड़ा सरल है। लड़ाई से इसका समाधान कभी नहीं हो सकता। हम यदि यह मान कर कहें कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का समाधान शांतिपूर्ण पारस्परिक वार्ता से तथा उचित आधार प्रस्तु करने से सम्भव है, तो सैन्य-शक्ति के उपयोग से होने वाली क्षति रोकी जा सकती है। लेंकिन वार्ता और समझौते के पीछे विश्व-सरकार या किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की शक्ति होनी चाहिए।

प्रश्न—अणु-अस्त्रों के निर्माण और संग्रह के लिए दौड़-धूप मची है, वह हमें नये विश्व-युद्ध की ओर लिए जा रही है, या जैसा कुछ लोग कहते हैं युद्ध से त्राण का साधन सिद्ध होगी ?

उत्तर—शस्त्रास्त्र-निर्माण की जो होड़ मची है उससे युद्ध नहीं रुक सकता। इस दिशा में उठाया हुआ प्रत्येक कदम हमें संहार के निकट ले जाने का ही जिम्मेदार सिद्ध होगा। शस्त्रास्त्र-संघटन के लिए मची हुई यह दौड़-धूप युद्ध रोकने का निकृष्टतम मार्ग है। इसके विपरीत वास्तविक शान्ति की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक समग्र रूप से सभी राष्ट्र निरस्त्रीकरण की पद्धति का अवलम्बन नहीं करते। मैं यह बात फिर जोर देकर कहता हूँ कि शस्त्रास्त्र-निर्माण की होड़ युद्ध से हमें बचाने के बजाय हमें युद्ध में ही ढकेलेगी।

प्रश्न—क्या यह सम्भव है कि हम एक साथ युद्ध की तैयारी भी करें और मानवमात्र को निकटता के सूत्र में आबद्ध कर सकें ?

उत्तर—शान्ति के लिए प्रयत्न करना और युद्ध की तैयारी करना, ये दोनों काम तो एक साथ चल ही नहीं सकते, और आज-कल तो बिल्कुल नहीं।

प्रश्न—क्या हम युद्ध रोक सकते हैं ?

उत्तर—इसका जवाब बहुत आसान है। अगर हममें साहस हो कि हम शान्ति के लिए ही निश्चय कर लें, तो अवश्य ही हमें शान्ति की प्राप्ति होगी।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—समझौता कर लेने के दृढ़ निश्चय से। यह स्वयं सिद्ध है; हम कोई खिलवाड़ की बात नहीं कर रहे हैं, वरन् इस समय तो हमारे अस्तित्व के लिए ही संकट आ गया है। अगर हम दृढ़ता-पूर्वक समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए तत्पर नहीं होते, तो शांति की अवस्था कभी उत्पन्न नहीं की जा सकती।

प्रश्न—आगामी दस-बीस वर्षों के भीतर हमारी सभ्यता पर अणुशक्ति के किसी प्रभाव का क्या आप अनुमान कर सकते हैं ?

उत्तर—अभी कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। हमारे सामने इस समय जो यांत्रिक संभावनाएँ हैं, वे पर्याप्त रूप से सन्तोषप्रद हैं। यदि उनका ठीक ढंग से उपयोग किया गया, तो अच्छा ही है।

प्रश्न—वैज्ञानिकों ने हमारे रहन-सहन के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणियाँ की हैं, उनके बारे में आपकी क्या राय है, जैसे हमें आगे चल कर प्रतिदिन दो ही घंटे काम करना पड़े, इस सम्भावना के बारे में आपका क्या ख्याल है ?

उत्तर—तब भी तो हम वही इन्सान रहेंगे। व्यापक परिवर्तन की कोई बात नहीं उठती। हम पाँच घंटे काम करें या दो घंटे,

इसका कोई महत्त्व नहीं हैं। हमारी असल समस्या स्वभावगत और आर्थिक है और उसका समाधान आन्तर्राष्ट्रीय आधार पर होना चाहिए।

प्रश्न—अणु-बमों का जो बड़ा भारी संग्रह हो चुका है, उनके बारे में फिर क्या किया जा सकता है ?

उत्तर—उन्हें किसी आन्तर्राष्ट्रीय संघटन को दे दिया जाय। जब तक स्थायी और दृढ़ शान्ति का आधार प्रस्तुत नहीं हो जाता तब तक रक्षा का कोई-न-कोई साधन आवश्यक ही है। एकपक्षीय निरस्त्रीकरण संभव नहीं। अस्त्रों को किसी आन्तर्राष्ट्रीय संस्था को ही सौंपना चाहिए, दूसरा कोई उपाय नहीं। निरस्त्रीकरण का ठीक ढंग किसी आन्तर्राष्ट्रीय सरकार के ही नियंत्रण में चल सकता है। सुरक्षा के प्रश्न पर लोगों को बहुत विचार करने की जरूरत नहीं। शान्ति की दृढ़ इच्छा यदि हो, तो हमें किसी प्रकार की बाधाएँ विचलित नहीं कर सकतीं।

प्रश्न—कोई एक व्यक्ति युद्ध अथवा शान्ति के सम्बन्ध में क्या कर सकता है ?

उत्तर—एक-एक व्यक्ति भी बहुत कुछ कर सकते हैं। कम से कम वे इतना तो कर ही सकते हैं कि जो-जो लोग कांग्रेस आदि की सदस्यता के लिए खड़े हों, उनसे यह स्पष्ट वचन ले लें कि वे आन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए प्रयत्न करेंगे और आवश्यक होने पर राष्ट्र की प्रभुसत्ता को नियन्त्रित करने की बात आने पर भी न हिचकेंगे। प्रत्येक व्यक्ति को जनमत बनाने का अधिकार है। उसे यह समझ लेना चाहिए कि असल में किस चीज की जरूरत है और यह समझ लेने के बाद उसके अन्दर साहस होना चाहिए कि वह अपनी बात स्पष्ट रूप से कह सके।

प्रश्न—संयुक्त राष्ट्रसंघ का रेडियो संसार की २७ भाषाओं में

दुनिया के कोने-कोने में बसे लोगों को शान्ति के सन्देश सुनाता रहता है। चूँकि यह बहुत ही संकट को वेला है, इसलिए हम आपसे जानना चाहेंगे कि लोगों को यह सन्देश किन शब्दों में पहुँचाया जाय।

उत्तर—सब बातों पर विचार करने के बाद यही कहा जा सकता है कि आधुनिक समय के सभी राजनीतिक विचारकों में महात्मा गांधी के ही विचार सर्वोत्तम थे। हमें उनकी निष्ठा और भावना के साथ काम करना चाहिए, बल्कि जो उनमें दोषपूर्ण दिखायी देता हो, उससे अपने को हमें अलग कर लेना चाहिये।

('आइडियाज़ एन्ड ओपिनियन्स' से)

अहिंसात्मक विद्रोह की व्याख्या

'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दिनों में नयी विचार-धाराएँ सामने आयीं। एक विचारधारा के प्रेरक समाजवादी थे। उनका कहना था कि स्वातंत्र्य-आन्दोलन के प्रसंग में अब अहिंसा का ज़माना लद गया। इसका मुख्य काम जन-जागृति था, और वह अब हो चुका है। अन्तिम और निर्णायक आन्दोलन में, जिसका पुरोगामी अहिंसात्मक संग्राम था, शस्त्र-प्रयोग की बात बिलकुल त्याज्य नहीं मानी जा सकती। दूसरी विचारधारा के प्रेरकों का विश्वास तो अहिंसा में जरूर था, लेकिन उनका भी ख्याल था कि इसकी प्रयोग-विधि में संशोधन और विस्तार की गुन्जाइश है। ऐसे लोग अपने ढंग को 'अभिनव सत्याग्रह' या 'अभिनव गाँधीवाद' कहते थे। इस संशोधित विधि के अनुसार व्यापक रूप से ध्वंसकार्य, छिपे रहकर कार्रवाइयों और प्रतिद्वन्दी सरकार के संघटन की योजना थी।

आत्मबलिदान की आवश्यकता

इस ध्वंसकार्य में लगे लोग यह मानने के लिए बिलकुल तैयार न थे कि सरकारी सम्पत्ति को तहस-नहस करना—जैसे रेलवे लाइनें उखाड़ना, इमारतें गिराना, पुल तोड़ना, तार की लाइनें काटना—भी हिंसात्मक कार्यों के अन्दर शुमार किया जायगा। उनका मत था कि यह हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है और अपनी सम्पत्ति के साथ अपनी मर्जी के मुताबिक व्यवहार करने का हमें पूरा अधिकार है। सरकारी हिंसा को बेकार करने के लिए यह जरूरी हो सकता है कि हम उन्हें विनष्ट कर दें।

गांधीजी का विचार इसके प्रतिकूल था। वे कहते थे कि यह तरीका ही बिलकुल गलत है। सरकार के तरीकों से रुष्ट या असंतुष्ट होकर हमें राष्ट्रीय सम्पत्ति बरबाद करने का कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त बुराई उन तार की लाइनों, रेलों और इमारतों में नहीं है, वरन् उनमें हैं, जो बुरे ढंग से उनका प्रयोग करते हैं। इसलिए सम्पत्ति का विनाश करके भी हम बुराई को तो जैसे का तैसा ही छोड़ देते हैं। जड़ तो उसकी कायम ही रहती है : उसको ठीक रास्ते पर लाने के लिए विनाश नहीं, बल्कि आत्म बलिदान की जरूरत है। इसी प्रकार हम अधिकारियों को दिखा सकते हैं कि भले वे हमें कुचल डालें लेकिन हमें झुका नहीं सकते।

अहिंसा से हृदय-परिवर्तन

ध्वंस-कार्यों से सरकार को पंगु बना देने के सपने देखने वाले गांधीजी से अक्सर कहा करते—आपने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को अहिंसात्मक विद्रोह बताया है। क्या अहिंसात्मक विद्रोह भी सत्ता छीनने का तरीका नहीं है?

और गांधीजी कहते—बिलकुल नहीं। सत्ता हथियाने की कोई

बात ही इसमें नहीं है। यह तो ऐसा तरीका है कि पारस्परिक सम्बन्ध ऐसे सुधर जायं कि अंग्रेजों का हृदय-परिवर्तन हो जाय और वे स्वयं सत्ता-हस्तान्तरित कर दें। यदि जनता का अहिंसात्मक असहयोग इतना पुर-असर हो जाय कि सारा सरकारी ढाँचा ही लड़खड़ा जाय या किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण के फलस्वरूप सरकारी तंत्र समाप्त हो चले, तो जनता की संगठित शक्ति स्वभावतः उसका स्थान ले लेगी। लेकिन यह सब तभी सम्भव है, जब जनता के सभी वर्गों के अन्दर एकता हो, मेल हो और समाज विरोधी तत्त्वों से निपट लेने की क्षमता हो तथा उसका आधार अहिंसात्मक शक्ति हो। तभी जनता की सरकार अपनी बातें मनवा सकती है। यह सरकार कभी जुल्म नहीं कर सकती। अपने विरोधियों को भी वह पूरा संरक्षण प्रदान करेगी।

लेकिन जिन्हें गुप्त कार्यों का मजा मिल चुका था, वे इतनी आसानी से मान जाने वाले थोड़े ही थे। उन्होंने तर्क किया—माना कि ध्वंस-कार्य और गुप्त-आन्दोलन हिंसात्मक कार्य हैं, परन्तु यह भी तो है कि जिन्हें हमारे ढंग से काम करने की शिक्षा मिली है, वे ही अहिंसा की बात ठीक-ठीक से समझ पाते हैं, न कि वे लोग जिन्हें इसका कोई अनुभव नहीं है।

गांधीजी के पास तो जैसे इन तर्कों का जवाब तैयार ही धरा था। वे फौरन कहते कि आप लोग जो कुछ कहते हैं, वह इसी अंश तक ठीक है कि ऐसे आदमी हिंसा का बार-बार प्रयोग करके इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इससे कुछ होने जाने वाला नहीं है। और फिर वे पूछते—क्या आप लोग यही कहना चाहते हैं कि जो लोग पाप-कर्म में अधिक रत रहते हैं, वे पुण्य के अधिक निकट हैं, न कि वे जिन्हें उसका कोई अनुभव नहीं।

('महात्मा गांधी : दि लास्ट फेज' से)

न्यूयार्क में सविनय कानून-भंग

सन् १९५५ के जून में २७ शान्तिवादियों ने न्यूयार्क राज्य का वह कानून-भंग किया था, जिसके अनुसार वैमानिक युद्धाभ्यास के अवसर पर रक्षागृहों की शरण लेना अनिवार्य कर दिया गया था और उस नियम को भंग करना जुर्म ठहराया गया था। उस समय ये लोग गिरफ्तार कर १५०० डालर की जमानत पर छोड़े गये तथा अदालत में इन पर मुकदमे चलाये गये। अदालत ने इन्हें सजा तो जरूर दी, किंतु वह उस समय लागू नहीं की गयी।

इनका कहना था कानून-भंग करने के हमारे इस विचार और सजा भुगतने की इस तत्परता का कारण यह है कि हम अपने विरोध-प्रदर्शन से जनता को आगाह कर सकें कि सरकार यह कह करके उसे धोखा दे रही है कि अणुबमों के आक्रमण के समय भी इन रक्षागृहों में जाकर जान बचायो जा सकती है। सच बात यह है कि अणुशस्त्रों से आक्रमण होने पर रक्षा का कोई उपाय कारगर नहीं हो सकता और उसके प्रहार से अपराधो तथा निर्दोष, सबका समान रूप से सफाया हो जाता है।

पाप का प्रायश्चित्त

कहा जाता है कि इस बम का सहारा ले कर कम्यूनिज्म से रक्षा की जा सकती है। कम्यूनिज्म के विरुद्ध यह तर्क रखा जाता है कि लेनिन के ही शब्दों में 'मार्क्सवाद ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता।' दूसरी बात यह है कि कम्यूनिस्ट हिंसा और शस्त्रबल से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहते हैं। ऐसे अस्त्रों का प्रयोग अपने ही भाइयों के विरुद्ध करके हम इस बात को ही अस्वीकार करते हैं कि उनमें भी ईश्वर की प्रतिमूर्ति विराजमान है। ईश्वर हमारे जन्मदाता हैं और हम सब मनुष्य भाई-भाई हैं।

अपनी इस मान्यता के लिए हम प्राण-त्याग करने को भी तैयार हैं। हमारे देश के लोगों ने ही पहले-पहल अणुबम गिराया था, इसलिए उन्होंने जो पाप किया, उसका प्रायश्चित हम करना चाहते हैं।

लन्दन में भूदान-गोष्ठी

लन्दन स्थित भारतीय दूतावास के श्री सोमनाथ धर के सभापतित्व व भूदान-आन्दोलन के सम्बन्ध में एक गोष्ठी का आयोजन रेवरेंड डब्ल्यू० ए० कर की ओर से किया गया था, जिसमें श्री जे० एस० ह्वायलैण्ड ने भूदान-आन्दोलन के सम्बन्ध में अपने मत बहुत ही उत्तम ढंग से व्यक्त किये। रेवरेंड कर ने गोष्ठी का आरम्भ करते हुए बतलाया कि ह्वायलैण्ड भारत में एक प्रान्तीय सरकार के अधीन बहुत ही महत्त्वपूर्ण पद पर रह चुके हैं, अतएव उन्हें भारत की भूमि-समस्या के बारे में बहुत ही अच्छा ज्ञान है। इसलिए भूदान-आन्दोलन के सम्बन्ध में विचार प्रकट करने के वे उचित अधिकारी हैं।

श्री ह्वायलैण्ड ने भूदान-आन्दोलन की प्रगति के सम्बन्ध में बहुत ही प्रशंसात्मक बातें कहीं और इसे 'शान्तिपूर्ण कृषि-क्रान्ति' की संज्ञा दी। विनोबाजी श्रीमानों से जिस प्रकार अपनी बात कहते हैं और अपने को उनके परिवार का सदस्य मान कर जिस प्रकार उन्हें भूमि-दान करने को कहते हैं, उसकी श्री ह्वायलैण्ड ने बहुत सराहना की।

कुछ समय पूर्व ब्रिटेन में हैलम टेनीसन द्वारा संस्थापित भूदान-कूप-निधि की चर्चा करते हुए आपने कहा कि हम इस निधि से भारत में कुएँ खुदवाने के काम में थोड़ी-बहुत सहायता कर रहे हैं। आपने

श्रोताओं को अपने हाथ का बनाया हुआ एक खिलौना दिखाया और कहा कि ऐसे-ऐसे सात सौ चालीस खिलौने मैं बना चुका हूँ, जिन्हें अपने यहाँ (बर्मिघम) बेच कर मैंने तीन सौ पौंड की रक़म एकत्र की है। यह सारी रक़म भूदान-कूप-निधि में दी जा चुकी है।

मध्यप्रदेश (भारत) में एक भूदान-दल के साथ के साथ भ्रमण कर रहे अपने मित्र श्री डोनाल्ड ग्रूम द्वारा प्रेषित एक पत्र आपने पढ़ कर सुनाया। श्री ग्रूम ने उपर्युक्त पत्र में लिखा था कि पत्र लिखने तक भूदान-यज्ञ में कुल कितनी भूमि प्राप्त हो चुकी है! आपने यह बात बहुत जोर देकर लिखी थी कि कितने ही छोटे-छोटे भू-स्वामियों ने अपनी आधी से भी अधिक ज़मीन इस यज्ञ में भेंट कर दी है।

भाषण के बाद बहुत से लोगों ने अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ प्रकट कीं, जिनका समाधान श्री ह्वायलैण्ड और सभापति ने किया। अन्त में भूदान-कूप-निधि में लोगों से दान देने की प्रार्थना की गयी और उस समय ही ९ पौंड की रक़म एकत्र हो गयी।

—विमला

नारी-जीवन : एक गम्भीर समस्या

मानव-समाज में यदि कोई वर्ग सबसे अधिक दलित और प्रताड़ित है, तो वह है नारी-वर्ग। उसकी अवस्था ठीक वैसी ही है, जैसी समाज में निम्न श्रेणी के कहे जाने वाले वर्ग की है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने स्वाभाविक औदार्य एवं पुरुष वर्ग के किंचित् प्रेम एवं घूस में दिये गये वस्त्राभूषणों के भुलावे में आकर वह अपनी दयनीय अवस्था भूल जाती है। किन्तु जो अवस्था उसकी है, उसको देखते हुए यदि सामाजिक न्याय की आवश्यकता और

अपेक्षा किसी को है तो वह नारी को ही। यह कितनी विडंबना की बात है कि लोकतंत्र और समाजवाद में सामाजिक न्याय और समानता की दुहाई देने वालों की व्यवस्था में भी नारी उठ नहीं पाती।

सबसे बड़ी बात यह है कि सब वर्गों की समानता के लिए जिस नये आन्दोलन की बात कही जाती है, उसका स्पष्ट स्वरूप सविनय अवज्ञात्मक है। और इसी के सहायता से नयी सभ्यता का उदय हो सकता है, किन्तु यह नया आन्दोलन एकाकी पुरुष नहीं चला सकता, उसके लिए नारी का सहयोग नितान्त आवश्यक है। यदि आन्दोलन में नारी पर्याप्त संख्या में भाग लेने लगे, तो इन अवसरों पर गुण्डई या हिंसा अपने आप कम हो जाय। सविनय अवज्ञात्मक आन्दोलन की जितनी सच्ची प्रतिनिधि नारी है, उतना पुरुष नहीं। निश्चय ही इस क्षेत्र में अथवा औदार्य के क्षेत्रों में पुरुष नारी की बराबरी नहीं कर सकता। ऐसा अवस्था में जब उसके लिए विशेषाधिकारों की माँग होती है, तो उसमें मुँह बिचकाने की कोई बात नहीं आती। कर्तव्यों की अपेक्षा अधिकार मुख्यतया राजनीति का विषय हैं और राजनीति का काम संघटन शक्ति के बल पर ही चलता है, परन्तु संघटन के काम में पुरुष नारी से श्रेष्ठ है। अतः ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि विशेषाधिकार प्रदान कर नारी का यह हीन पक्ष यथासंभव दूर हो।

आज अविवाहिता नारियों की अवस्था विवाहिताओं की अपेक्षा बहुत ही भिन्न हैं। यह केवल किन्हीं विशेष मनोभावों या विशेषताओं के कारण नहीं, बल्कि उनका स्तर ही भिन्न होता है। आज इनकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है। अविवाहिता नारी का जीवन सर्वथा एकाकी हो ऐसी कोई बात नहीं है। फिर भी उसकी जो अवस्था है वह बहुत ही बारीकी और सावधानी के साथ विचार की वस्तु है।

उसका ध्यान आते ही हृदय की कोमल भावनाएँ उद्वेलित हो उठती हैं। संभव है, उसकी हृद्कलिका के खिलने का अवसर ही न आता हो या संभव है, वह खिलते ही मुरझा जाती हो। अथवा संभव है, उसकी द्विचित्तात्मक अवस्था हो, पर जो कुछ भी हो, वह विचार-णीय अवस्था है। जब तक कि अविवाहिता नारी अपने को पवित्र और निष्कलंक नहीं रख पाती और जब तक कि उसके एकाकीपन पर निर्मम समाज उँगली उठाना नहीं बन्द करता, तब तक तो उसका जीवन दयनीय है ही और मानस-शास्त्रज्ञों के लिए उसकी अवस्था विचारणीय है ही।

संसार में यही अवस्था विधवाओं की है; भारत में तो उनकी अवस्था और भी भयानक है। सन् १९५१ की जन-मणना के अनुसार ६१ लाख १८ हजार विधवाओं में १ लाख ३४ हजार ऐसी हैं, जिनकी उम्र ५ से लेकर १४ वर्ष तक की है। विधवाओं की दुर्गति वैसे तो सर्वत्र है, किन्तु भारत में यह और अधिक है, जहाँ प्रायः १३ प्रतिशत विवाहिता नारियाँ विधवा हैं। बाल-विधवा और अविवाहिता नारी में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि पहली की हृद्कलिका खिलने के पहले ही मुरझा जाती है जब कि दूसरी उसे खिलने का अवसर ही नहीं आने देती। अल्पवयस्का विधवाएँ, विशेषतः वे जिनको कोई पुत्र नहीं होता, समाज के निर्मम प्रहारों का आखेट बनायी जाती हैं। यदि अविवाहिता नारी स्वेच्छा-प्रेरित अतृप्त और दुखी जीवन बिताती है, तो विधवा को विवशतावश ऐसा जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

विधवाओं की अवस्था के प्रति पिछले दिनों समाज में सहानु-भूति उमड़ी थी। आरम्भ में तो इसके विरुद्ध बड़ा हो-हल्ला मचा, किन्तु आगे चल कर यह आन्दोलन शिथिल पड़ गया। समाज-सुधारकों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि एक बड़े दुर्ग को ध्वस्त करने

में उन्हें सफलता मिली। लेकिन भारत इतना बड़ा देश है कि इसमें एक हवा यदि कहीं बही, तो फिर वह उतने ही क्षेत्र तक परिमित रह जाती है। आगे न तो उसका कोई प्रभाव पड़ता है और न वह उस क्षेत्र को ही देर तक प्रभावित कर पाती है।

ऐसी स्थिति में एक बड़ा प्रश्न हमारे सामने यह अवश्य रह जाता है कि भारत में सदियों से व्याप्त जो रूढ़िवादिता और कट्टर-पंथी है, वह कब दूर होगी और नये विचारों को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति कब उत्पन्न होगी। हमारे समाज-सुधारकों और क्रान्ति-विचार रखने वालों को केवल तर्क-वितर्क से अपना पक्ष दृढ़ समझ लेने की भ्रमपूर्ण भावना से आगे बढ़ कर इस अवस्था पर भली भाँति विचार करना चाहिए। ऐसे तो हर नये प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहेगा, परन्तु उसका फल कुछ न निकलेगा। प्रत्येक नये प्रश्न पर गर्मागर्म बहस होती रहेगी और फिर भले ही कुछ लोग उससे प्रभावित होकर आगे बढ़ें किंतु समाज का पूरा ढाँचा जैसे का तैसे रह जायगा। यही अवस्था विधवा-विवाह एवं अवि-वाहिता नारियों की रह जायगी और समाज का स्वरूप अपरि-वर्तित गति से चलता रहेगा। यह अवस्था निश्चय ही गंभीरता-पूर्वक विचारने योग्य है।

('मैनकाइंड' से साभार) —डॉ॰ राममनोहर लोहिया

श्रद्धा जीवन का बल है

श्रद्धा चाहे कुछ हो, वह चाहे जो उत्तर देती हो और चाहे जिन्हें वह उत्तर दे, पर उसका प्रत्येक उत्तर मनुष्य के सीमित अस्तित्व को एक ऐसा अर्थ प्रदान करता है जिसका अन्त कष्ट, विपत्ति और मृत्यु से नहीं होता। इसका मतलब यह है कि सिर्फ

श्रद्धा में ही हम जीवन के लिए एक अर्थ और एक संभावना प्राप्त कर सकते हैं। तब यह श्रद्धा क्या है ?

विचार करके मैंने समझा कि श्रद्धा 'अदृश्य की साक्षी' मात्र नहीं है, सिर्फ दैवी प्रेरणा ही नहीं है, सिर्फ ईश्वर के साथ मनुष्य का सम्बन्ध ही नहीं है; यह सिर्फ उन बातों को मान लेना ही नहीं है, जो बतायी गयी हों, यद्यपि श्रद्धा का आमतौर पर यही मतलब लिया जाता है। श्रद्धा तो मानव-जीवन के प्रयोजना का वह ज्ञान है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपना नाश नहीं करता; बल्कि जीता है। श्रद्धा जीवन का बल है। अगर कोई आदमी जीता है, तो वह किसी-न-किसी वस्तु से श्रद्धा रखता है। यदि उसमें श्रद्धा नहीं है कि किसी चीज के लिए उसे जीना चाहिए, तो वह जी न सकेगा। यदि वह ससीम की मिथ्या प्रकृति को नहीं देख और पहचान पाता, तो वह ससीम में विश्वास करता है, यदि वह ससीम को मिथ्या प्रकृति को समझ लेता है, तो फिर उसके लिए असीम में विश्वास रखना जरूरी है। बिना श्रद्धा के तो वह जी ही नहीं सकता।

—टॉलसटॉय

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।"

....

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।"

—श्रीमद्भगवद्गीता—

'जग में जीना दो दिन का'

जब मैं सन् १९४२ में रायपुर-जेल में कैदी था, तो मेरे वार्ड के बाजू में ही स्त्रियों का वार्ड था। वहाँ से सुबह-शाम प्रार्थना की आवाज सुनायी देती थी। उसमें एक भजन रोज गाया जाता था। उसका ध्रुव-पद था—'जग में जीना दो दिन का।' मेरा खयाल है कि वह भजन 'ब्रह्मानंद-भजनमाला' का है। इसी भाव के हमारे भक्ति-साहित्य में सैंकड़ों भजन हैं। कबीर का 'इस तन धन की कौन बड़ाई' तो प्रसिद्ध ही है। इन भजनों में सत्यांश और बोध लेने लायक कुछ भाग तो है ही। फिर भी मुझे ये विचार कुछ अखरते थे। कई दिन तक उसे सुनते रहने पर अपने साथ रहने वाले श्री तुकडोजी महाराज से मैंने एक दिन विनोद में कहा, "ये बहनें कैसे मान सकती हैं कि 'जग में जीना दो दिन का' है ? मास-डेढ़ मास तो हमें ही सुनते-सुनते हो गया।" खैर, यह तो मजाक था, लेकिन उसके प्रत्युत्तर रूप निम्न भजन है :

क्यों कहो जी साधो, जग में जीना दो दिन का ?
गलत खयाल न बाँधो, जग में जीवन दो दिन का।
तन लघुजीवी, जग चिरजीवी अविनाशी जीवन का।
जग के कार्यालय में तन है साधन केवल जीवन का ॥१॥
देह मरे दो दिन या युग में, अन्त नहीं वह जीवन का;
न कार्य ही नाश सभी होता, किया जो तन ने जीवन का ॥२॥
चरित-बुद्धि-वीर्य-मृत्यु से विकास जग के जीवन का।
गुण-विद्या-कीर्ति-धन-वंशज दान है तन के जीवन का ॥३॥
तन जाने से डूबी दुनिया सत्य नहीं यह जीवन का।
तन जावे और जग डूबे, पर तू स्वरूप अक्षय जीवन का ॥४॥

—किशोरलाल मश्रूवाला

हम इन्द्रियों की गुलामी से मुक्त हों

हम मानते हैं कि मनुष्य की भौतिक जरूरतें पूरी की जानी चाहिए और अच्छी मात्रा में पूरी की जानी चाहिए। परन्तु मनुष्य यह तो समझे कि इनका पूरा करना, इन्हें बेकार बढ़ाते रहना और फिर उनकी पूर्ति में निरंतर लगा रहना तथा इन्द्रियों की तृप्ति के पीछे दौड़ते रहना—बस केवल यही तो मानव जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। इन इंद्रियों की क्या कभी तृप्ति भी होने वाली है ? यों तो मनुष्य दौड़ता ही रहेगा, उसे कभी विश्राम नहीं मिलने वाला है। न कभी वह अपने-आपको रोक सकेगा और न उसे कभी कोई सुख मिलेगा। इसका नतीजा यह होगा कि यह भोगलिप्सा अन्य तमाम मानवोचित उदात्त प्रवृत्तियों को खा जायगी। उनका खग्रास ग्रहण हो जायगा। उपभोग्य वस्तुओं को पैदा करो और उनको प्राप्त करो, यही एकमात्र प्रवृत्ति या गुण—अगर यह गुण कहा जा सके—संसार में रह जायगा और मनुष्य के दूसरे सब शानदार सद्गुण और शुभाकांक्षाएँ सुप्त और अविकसित ही रह जायंगी। उनका विकास कुंठित हो जायगा। मनुष्य एकांगी बन जायगा और इस सभ्यता में बुद्ध, ईसा, मुहम्मद अथवा गांधी को कोई नहीं पूछेगा।

इसलिए आज मनुष्य को आत्म-संयम और अपनी आत्मा की खोज की यात्रा फिर से शुरू करनी है। जीवन-यात्रा के लिए भौतिक वस्तुओं का अपने स्थान पर मूल्य अवश्य है। लेकिन मनुष्य को जरा गहराई से अपने अन्दर बैठकर अपने असली स्वभाव की खोज करनी चाहिए। सूक्ष्म प्रवृत्तियों का अध्ययन कर कूड़े-करकट को निकाल बाहर करना चाहिए और आत्मा का विकास करना चाहिए। इस आत्मशोधन और आत्म-संयम के रास्ते अलग

हो सकते हैं। परन्तु हर हालत में मनुष्य इन इन्द्रियों की गुलामी से आत्मा को संज्ञाशून्य बना देने वाली जड़ता की पूजा से तो अवश्य ही अपने आपको मुक्त करे। जिस मात्रा में वह अपने आपको इन गुलामियों से मुक्त करेगा, उस मात्रा में उसे अवश्य ही सफलता मिलेगी। तब वस्तुओं के उत्पादन और उपार्जन के मोह संस्कृति पर हावी नहीं हो सकेंगे, बल्कि उसकी व्यापक योजना में वे अपने लिए उचित स्थान ढूंढ़ लेंगे। यह पागल दौड़ बन्द हो जायगी और जीवन का नया दर्शन मनुष्य-जाति की आँखों के सामने खड़ा हो जायगा।

('सर्वोदय-संयोजन' से साभार)

भारत माता की जय !

अखण्ड भारत में पंजाब के दौरे पर गये पण्डित जवाहरलाल नेहरू को दर्शनाभिलाषी हजारों ग्रामीणों ने घेर लिया और 'भारत माता की जय' के गगनभेदी नारे से उनका स्वागत किया।

नेहरूजी ने तत्काल पूछा—इसका क्या मतलब ?

उनकी समझ में कोई उत्तर न सूझा; वे मौन रहे।

नेहरूजी ने पुनः आग्रह किया—किस माता की जय-जयकार आप लोगों ने की है ? आखिर वह माता कौन है, यह तो बताइये।

एक किसान ने हिम्मत की और आगे बढ़ कर बोला—यह धरती है, पृथ्वी माता है, जिसकी जय हमने मनायी है।

नेहरूजी ने फिर पूछा—किसकी धरती, किसकी जमीन ? क्या आपने अपने गाँव की जमीन की जय मनायी है, उसका अभिवादन किया है ? या अपने प्रान्त की, या देश की (भारत की) या समूचे संसार की ?

बेचारे गाँव के किसान ! वे क्या जवाब देते ? चुप ही रहे। और तब कुछ लोगों ने नेहरूजी से बहुत ही नम्रतापूर्वक अनुरोध किया—आप ही हमें समझाइये हमारी समझ में तो कुछ नहीं आ रहा है।

नेहरूजी ने उनका आग्रह स्वीकार कर लिया। फिर उन्होंने बताया कि 'भारत माता हमारी मातृभूमि है, जिसकी हम सब सन्तान हैं; हम नहीं, बल्कि इस देश के उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम; सब भागों में बसने वाले लोग उसकी सन्तान हैं आप जब भारत माता की जय बोलते हैं, तो उसका आशय यह होता है कि आप भारत में बसने वाले उन सारे लोगों की जय मनाते हैं, जो भारत माता को सन्तानें हैं।''

"और क्या आप जानते हैं कि, ये सन्तानें हैं कौन ? नहीं जानते, तो सुनिये। ये और कोई नहीं, हम ही सब हैं—आप ओर मैं। इसलिए जब आप भारत माता की जय कहते हैं, तो अपनी ही जय मानते हैं और इसके साथ ही इसके साथ ही इस विशाल देश में बसे सभी भाई-बहनों की जय मानते हैं। यह बात हमेशा याद रखें कि भारत माता और कोई नहीं, बल्कि, भारत के निवासी ही हैं और भारत माता की जय का अर्थ है—यहाँ के निवासियों की जय। बोलिये भारतमाता को जय।"

ध्यानपूर्वक नेहरूजी की बातें सुनने के बाद उन्होंने कहा—"आपका कहना बिल्कुल ठीक है।

ज्ञान की इस नयी ज्योति से उनके चेहरे खिल उठे।

('जवाहरलाल नेहरू' से साभार) —फ्रैंक मोरेस

तब तक भीषण युद्ध होते रहेंगे

आज हम एक मोड़ पर खड़े हैं। जिस रास्ते पर अब तक दुनियाँ चलती थी, उसे छोड़ कर अब उसे दूसरी राह अख्तियार करनी पड़ेगी। पुराने आचार-विचार, पुरानी परम्पराएँ और संगठन टूटेंगे और नये उनको जगह लेंगे। यह नयी राह राहत की होगी या आज से भी ज्यादा कठिन और मुसीबत की होगी, यह कहना मुश्किल है, किन्तु इसमें कुछ शक नहीं कि एक नये युग का प्रवर्तन होने जा रहा है। सन् १९१४-१९ के रक्त-स्नान के बाद भी दुनिया न सँभली। आज वह पुराना इतिहास फिर से दुहराया जा रहा है। मानव-सभ्यता आज फिर खतरे में है। चारों ओर पाशविकता का राज्य है, आंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी बात का लिहाज और संकोच नहीं रह गया है और जीवन के ऊँचे आदर्श लुप्तप्राय हो रहे हैं। अगर दुनिया बदलती है, तो हमारा देश भी इन बड़ी तब्दीलियों से अछूता न रह जायगा। अगर दुनिया पर तबाही आयी, तो हम भी तबाही से बच न सकेंगे और यदि दुनिया में नया उजाला हुआ और एक ऐसा सामाजिक और आर्थिक सिलसिला कायम हुआ, जिससे मानवता की प्यास बुझने वाली है, जिसके जरिये जनता की आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जरूरतें पूरी होने वाली हैं, तो हम भी इस तरक्की में साझेदार होंगे। अतः दुनिया में आज क्या हो रहा है, इसके प्रति हम उदासीन नहीं रह सकते। आंतर्राष्ट्रीय जीवन की धारा से अलग रह कर न हम जिंदा ही रह सकते हैं और न तरक्की ही कर सकते हैं। इसलिए हमको इस बात के विचारने की जरूरत है कि दुनिया पर यह संकट क्यों आया और इसका अन्त कैसे हो सकता है ?

समाजवाद ही इस सवाल का संतोषप्रद जवाब दे सकता है। युद्ध इसीलिए होते हैं कि मुट्ठी भर धन-कुबेर समाज की सम्पत्ति

पैदा करने वाले समुदाय का आर्थिक शोषण करना चाहते हैं। उनको अपने मुनाफे से मतलब। वे अपने वर्ग के स्वार्थ को देश के स्वार्थ पर भी तरजीह देने को तैयार हैं। न उनकी कोई मातृभूमि है, न पितृभूमि। मुनाफा कमाने के लिए वे राष्ट्रों को लड़वा देंगे और लाखों देशवासियों की हत्या का पाप अपने ऊपर लेने से न हिचकिचायेंगे। मुनाफा उनके लिए सर्वोपरि है। वही उनका ईश्वर और धर्म है। यह अमिट सत्य है कि जब तक पूंजीवादी प्रथा कायम है तब तक संसार में भीषण युद्ध होते रहेंगे।

—आचार्य नरेन्द्रदेव

समाजवादी समाज कैसे ?

मेरे विचार से समाजवादी आधार पर संघटित समाज का स्वरूप ऐसा होना चाहिए, जिसमें आर्थिक समानता इस हद तक अवश्य ही हो कि कोई परिवार इतना ऊँचा न उठ जाय और कोई इतना नीचे न गिर जाय कि उचित आधार पर दोनों का मेल न हो सके। यह जरूर है कि ऐसे समाज में रुचि एवं हितों की विभिन्नताएँ रहेंगी और वे सामान्य रूप से सबको एकसाथ रखने में रुकावटें डालेंगी, किन्तु आर्थिक वैषम्य के कारण पारस्परिक सम्बन्धों में जो व्याघात उपस्थित होता है, वह इससे बिलकुल अलग चीज है। इस दिशा में हम चाहे जितने भी यत्नवान हों, यह निश्चित है कि वर्ग-विषयक प्रचलित विषमताओं को दूर कर कर समानता के आधार पर नये समाज की स्थापना में काफी समय लगेगा। इसमें सन्देह नहीं कि ये बाधाएँ बड़ी जबरदस्त हैं और उन्हें आसानी से पार कर पाना मुश्किल है, विशेषतया ऐसे समाज में तो और भी दिक्कत है, जहाँ अशिक्षा एवं दरिद्रता के कारण

किसानों तथा शिक्षितों के बीच, जो परम्परागत तरीकों से चिपके हुए हैं, अलगाव की गहरी खाईं पड़ी है। किन्तु यहीं नहीं, उन्नत या विकसित कहे जाने वाले देशों में भी, जहाँ सामान्य लोगों को इस बात की अधिक सुविधा है कि वे ऊँचे कह जाने वाले तबकों के बीच अपने को प्रविष्ट कर लें, आर्थिक विषमताओं की दुर्भेद्य दीवार आसानी से तोड़ पाना हँसी-खेल नहीं है।

हम यह उसझते हैं कि समाजवादी समाज की स्थापना हँसी-ठट्ठा नहीं है और न जादू की छड़ी घुमा देने से एक दिन में यह हो ही जायगा। आर्थिक और राजनीतिक अधिकार एक वर्ग के हाथ से छीन कर दूसरे के हाथ में दे देने मात्र से समाजवाद नहीं हो जायगा। वैसे तो समाजवाद असली रूप में तभी आयगा, जब अधिकार-परिवर्तन हो। समाजवादी ढाँचा खड़ा करने के सिलसिले में सबसे पहली बात यह होनी चाहिए कि सबके लिए समान रूप से एक सामान्य सांस्कृतिक आधार हो तथा जीवनयापना की एक सामान्य विधि हो और इसकी नींव में हो शिक्षा, अर्थ, राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था की एकरूपता। यह नितान्त आवश्यक है कि ऐसी एकरूपता समाजवादी ढाँचे के समाज में ही नहीं वरन् सर्वत्र हो। दूसरे देशों की ओर से आँखें मूंद कर किसी एक देश में पूर्ण रूप से समाजवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं के निवारण में जमकर प्रयत्न करने तथा विज्ञान को प्रगति के फलस्वरूप आर्थिक एवं सा माजिक क्षेत्रों में उपलब्ध सुविधाओं का लाभ सबको कराने से ही समाजवाद की प्राप्ति सम्भव है। आवश्यकता एवं अज्ञान के विरुद्ध जम कर लोहा लेने से ही इस कार्य में सफलता प्राप्त की जा सकती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें सभी रचनात्मक उपायों का अवलम्बन करना पड़ेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि इस

लक्ष्य की सिद्धि के लिए मनुष्य की सद्वृत्तियों को जगाकर उसके सामने आदर्श का स्वरूप उपस्थित करना होगा। यद्यपि यह संघर्ष, मुख्यतः मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण एवं अत्याचार के विरुद्ध होगा, जिसमें सभी देशों के लिए अभाव पीड़ितों को अपेक्षाकृत अधिक भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति हो, किन्तु हमारा लक्ष्य यह भी है कि मानव-जीवन की सद्वृत्तियों को पहचाने और उच्च विचारों तथा पारस्परिक स्नेह एवं सौहार्द को अपने जीवन ढालने का प्रयत्न करें।

प्रत्येक सच्चा समाजवादी यह बात जानता एवं अनुभव करता है। परन्तु सच बात-बात यह है कि हम यह स्पष्ट बात इसलिए कहने का साहस नहीं करते कि लोग इसे व्यर्थ की बकवाद न मान लें। आदर्श की बात पर कुछ समाजवादी कहे जाने वाले लोग इसलिए नाक-भौं सिकोड़ते हैं कि उनकी बातें अन्यथा न समझ ली जायें। जो कुछ भी हो, संसारव्यापी समाजवाद की कल्पना चरितार्थ ही नहीं हो सकती, यदि उसमें नैतिकता की अच्छी पुट न हो। आखिर हम संसार को समाजवादी ढाँचे में ढालना ही क्यों चाहते हैं? इसीलिए तो कि हम ऐसा मानते हैं कि सामाजिक व्यवस्था का कोई भी अन्य प्रकार विश्व बन्धुत्व और मानव के मौलिक अधिकारों की बात से मेल नहीं खाता।

('वर्ल्ड सोशलिज्म रीकन्सिडर्ड' से साभार)

—जी० डी० एच० कोल

साम्यवाद से आत्मवाद बड़ा है

एक दिन किसी ने भगवान् बुद्ध से प्रश्न किया कि आप महान् क्यों हैं? भगवान् ने उत्तर में कहा कि भाई मैं इसलिए महान् नहीं कि मैंने किसी प्रकार की सिद्धि पायी है, किन्तु मेरी महत्ता का यही

कारण है कि मैंने स्वप्न में भी किसी का अहित नहीं चाहा, मैंने किसी को क्लेश या अशान्ति नहीं पहुँचायी, किसी की ओर मैंने क्रोध, हिंसा, ईर्ष्या या द्वेष की दृष्टि से नहीं देखा। मैंने हमेशा दुःख को पहचान कर सहानुभूति से आश्वासन देने का प्रयत्न किया है।

बुद्ध भगवान् के इस उच्च विचार को, दिव्य भावना को यदि हम समझ सकें और परस्पर प्रेम रखें, क्रोध का क्षमा के बल पर प्रतिरोध कर अपकार का बदला उपकार से दें, तो सर्वत्र शान्ति-ही शान्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को पहले स्वयं सुधरने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवन-निर्माण के हेतु जितना हो सके, उतना योगदान देना चाहिए। इससे राष्ट्र का भला होगा। यदि समाज में एक आदमी भला हो जाय, तो एक बुरा आदमी कम हो जायगा। वैसे ही एक व्यक्ति जब नैतिक बल पर खड़ा हो जायगा, तब पतन के इतिहास की वहाँ ही इतिश्री होगी।

आज समाज में अनेक वाद हैं। वे सब अधिक हानिकर नहीं। परन्तु उनमें एक आधारभूत कमी है। वह यह है कि वे कुछ सामाजिक नियमों द्वारा समाज में सुख देना चाहते हैं। पर समाज का सुख व्यक्ति को बदलने से होता है। एक-एक व्यक्ति यदि अच्छा हो जाय, तो समाज में बुरे नियम अपने आप ही टिक नहीं सकते। इसीलिए तो कहता हूँ कि व्यक्ति का चारित्रिक उत्थान करो। व्यक्ति में आत्मानुशासन और धर्मानुशासन लाओ। समाज अपने आप बदल जायगा, शान्ति स्वयं आकर तुम्हारे पैरों पर लोटेगी। सुख मचल-मचल कर तुम्हारे गले लगेगा। कितने ही बड़े-बड़े साम्राज्य जायँ, किन्तु उस देश की फहराती हुई ध्वजा को कोई उतार नहीं सकता, जब तक कि वह देश नैतिक बलसे सम्पन्न है। जो दूसरों को मारने के लिए जाता है आखिर उसे भी

तो शान्ति चाहिए। उस देश की रक्षा होती है जिस देश में सन्तों की प्रचुरता है। उसकी संस्कृति कभी नहीं मिट सकती। हिंसात्मक देश कभी अहिंसात्मक देश को हानि नहीं पहुँचा सकता।

हमारे देश में फिर से स्वर्णयुग आयेगा, जब प्रत्येक भारतीय का जीवन सच्चे योग, धर्म, आध्यात्मिकता और संन्यास से निखर उठेगा, जब हम सच्चे संन्यासी बनेंगे। संन्यासी उसे ही कहते हैं, जिसका शरीर कर्तव्य का प्रतिपालन करते हुए भी मन सदा भगवद्-चिन्तन में तल्लीन रहता है, मन को संयमित रख कर वह अपने कर्तव्य का प्रतिपालन भी यथार्थ रूप से करता है, जो स्वप्न में भी परधन को स्पर्श नहीं करता। संन्यास को साकार करने के लिए महात्माओं के उपदेशामृत का पठन, श्रवण एवं मनन करना चाहिए। संन्यासी साम्यवाद नही, आत्मवाद को मानता है। साम्यवाद तो सबकी सत्ता अलग मान कर सबको मिलकर रहने को कहता है। यह तो व्यक्ति की रोटी की ही समस्या हल करता है परन्तु संन्यासी का आत्मवाद तो कहता है कि हम सबमें एक ही आत्मा है—हम सब एक ही शरीर के अनेक अंग की भाँति हैं। वह व्यक्ति की केवल रोटी की ही नहीं, वरन् उसकी मानसिक और आत्मिक समस्या को भी हल करता है। आत्मवाद साम्यवाद से बहुत बड़ा है। आज शान्ति के लिए हमें संन्यासी के इस आत्मवाद की आवश्यकता है। सबमें एक आत्मा का दर्शन करो। जिस प्रकार जब तुम्हारे मुँह पर कोई कीड़ा बैठता है, तब तुरन्त हाथ उसे उठाने के लिए चला जाता है, ऐसा ही हमारा सामाजिक प्रेम होना चाहिए। किसी को दुःख में देख कर, किसी को पीड़ित देख कर हम स्वयं चल पड़ें, यही है आत्मभावना। आत्मभावना में अहं नहीं होता। वहाँ सेवक और सेव्य का भाव भी नहीं होता, क्योंकि वहाँ तो आत्मा के नाते सब एक ही होते हैं।

('जीवन साहित्य' से) —सत्यानन्द सरस्वती

पक्षनिष्ठा या आत्मनिष्ठा ?

ब्रिटिश पार्लमेंट के विरोधी पक्ष के नेता श्री गेटस्केल ने हाल ही में एक अपूर्व प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि यदि टोरी पक्ष के सदस्य मौजूदा प्रधानमंत्री को हटाकर उसकी नीति को उलट दें, तो हम नये टोरी प्रधानमन्त्री का समर्थन करेंगे। जो लोग सर अण्टनी का समर्थन करते हैं, उन पर इस प्रस्ताव का कोई असर नहीं होगा। लेकिन जिनको सर अण्टनी की नीति के बारे में गंभीर सन्देह है, उनकी क्या स्थिति होगी ?

स्वाभाविक रूप से उनकी पहली प्रतिक्रिया क्रोध की होगी कि—देखो, यह हमारा दुश्मन हमको फुसला कर हमारी पक्षनिष्ठा भंग करना चाहता है। पोर्ट सैयद से इधर जो समाचार आये हैं, उनसे उनके मन की बेचैनी कुछ कम हुई होगी।

परन्तु फिर भी संकट की घड़ी अभी बीती नहीं है। हमारी लोकशाही में जो मसला सबसे ज्यादा हैरान करने वाला है, उस पर यह घटना विदारक प्रकाश डालती है। मसला यह है कि पार्लमेंट के सदस्य का असली कर्तव्य क्या है ? उसको अपने पक्ष के साथ कब तक चिपटे रहना चाहिए ? अपने मतदाताओं की बात कहाँ तक माननी चाहिए ? दूसरी सारी बातों को भूल कर, उसे अपनी अपनी बुद्धि का और अपनी आत्मा का निर्णय ही कहाँ तक प्रमाण मानना चाहिए ?

रानी साहिबा ने हाल ही में जो भाषण किया, वह और दर्द-नाक मसला उन टोरी सदस्यों के लिए पेश करता है, जिन्होंने फाँसी की सजा रद करने के पक्ष में अपना मत दिया था। क्या वे अपने मत पर डटे रहें ? या पार्टी के पीछे जायँ।

जब-जब यह सवाल पेश होता है, तब-तब उसका एक बना

बनाया जवाब होता है। यन्त्र में इकन्नी डालते ही अपने आप टिकट बाहर आता है। उसी तरह इस सवाल के जवाब में बर्क का वह सूत्र बाहर आता है कि पार्लमेंट का सदस्य एक प्रतिनिधि है, जो अपनी बुद्धि के निर्णय से मुताबिक राय देता है। वह कोई मुनीम नहीं है, जो अपने मतदाताओं की हिदायतों पर अमल करे।

ब्रिस्टॉल के मतदाता जब बर्क को वेस्ट मिन्स्टर (पार्लमेंट) के लिए भेज रहे थे, तब उसने उनसे कहा—"यह सच है कि आप एक सदस्य को चुनते हैं, लेकिन जब आप एक बार उसे चुन देते हैं, तो वह ब्रिस्टॉल का सदस्य नहीं रहता। वह पार्लमेंट का सदस्य हो जाता है।" आपका यह ख्याल हो सकता है कि इस सूत्र से पार्लमेंट के सदस्य को आचार-स्वातंत्र्य का पट्टा ही मिल जाता है, लेकिन दूसरे एक मौके पर बर्क ने कहा था—"स्वतंत्र देश में पार्टियाँ सदैव रहेंगी।"

मेरी समझ में अब बर्क की बात पर फिर से विचार करने का समय आ गया है। अब हमें सोचना चाहिए कि इस जमाने में पार्लमेंट के सदस्य की भूमिका क्या है? बर्क के जमाने के साथ आज के जमाने का कोई मुकाबला नहीं है।

बर्क के जमाने में और करीब हमारी शताब्दी के आरम्भ तक पार्टियों की सीमा-रेखाएँ सख्त नहीं थीं। इसलिए पार्लमेंट में मतदान से हेरफेर होने की गुञ्जाइश रह जाती थी। आज जबकि लोकसभा में यह सुपरिचित आवाज गूँजती है कि 'हाँ-वाले दाहिने जायँ' ओर 'ना-वाले बाँयें जायँ,' तो हर एक जानता है कि दशमलव के दूसरे अंक तक परिणाम क्या निकलेगा।

और यह सब हमारी करतूत है। चुनाव के वक्त कोई भी उम्मीदवार व्यक्ति की हैसियत से अपने भरोसे एक हज़ार वोट से ज्यादा कीमत का नहीं है, चाहे फिर वह कितना ही प्रतिभाशाली

क्यों न हो। हम व्यक्तियों को वोट नहीं देते। पार्टियों को देते हैं। नेताओं के एक समुदाय को वोट देते हैं, जिसने एक खास कार्यक्रम पूरा करने की प्रतिज्ञा की हो। जिस व्यक्ति को हम वोट देते हैं, उससे हमें यह आशा होती है कि यदि वह पार्लमेंट में पहुँच जाय तो वह अपना मत उन नेताओं को और उनके कार्यक्रम को देगा और जब अपने किसी रिश्तेदार की पेंशन बढ़ानी हो तभी अपनी अलग राय देगा।

पार्लमेंट के सदस्य के लिए यह नैतिक बन्धन है। हमारे वोट माँगते समय वह यह अहद करता है कि मैं अपनी पार्टी और उसके कार्यक्रम का समर्थन करूँगा। आज का शासन इतना पेचीदा है कि अगर आम तौर पर सदस्य इस तरह व्यवहार न करे तो गड़बड़ी हो जाय।

तो क्या फिर हमेशा आचरण का यही सूत्र होना चाहिए कि चाहे वह सच हो या झूठ, मेरे लिए मेरी पार्टी सही है। पार्टियों के ह्विपों ने क्या पार्लमेंट की नसों में खून का प्रवाह बिलकुल रोक दिया है?

हम बुनियादी सचाई को अपनी आँखों से ओझल कभी न होने दें। पार्लमेंट के सदस्यों का बहुमत समर्थन करता रहे, तो विश्व-विद्यालय की उपाधि-प्राप्त मर्कटों का मन्त्रिमण्डल भी बरकरार रह सकता है। सदस्यों का बहुमत अगर खिलाफ हो, तो अफलातूनों का मन्त्रिमण्डल भी एक दिन नहीं ठहर सकता।

लेकिन व्यक्तिगत सदस्य के लिए एक चोर-रास्ता है। पिछले चुनाव में उसने चाहे जिस कार्यक्रम की हिमायत क्यों न की हो, समय के साथ नये-नये मसले पेश होते हैं और पुराने मसलों की शकल को बदल देते हैं।

बाज़ मौके पर, किसी बाँके मौके पर ऐसी सूरत पैदा हो जाती

है कि चुनाव के एक खास मसले के बारे में पार्टी का नेता फलाँ रुख अखत्यार करेगा, ऐसा खयाल होता है। और जब वह उससे बिलकुल अलग तरह का रुख अखत्यार करता है, तब उसके साथियों में से कुछ समझते हैं कि यहाँ हमको बग़ावत करना चाहिए हम बग़ावत करने के लिए आज़ाद हैं। परन्तु उस हालत में भी यह सवाल होता है कि बग़ावत की हद क्या हो? चर्चिल, ईडन और दूसरे टोरी सदस्यों के एक समूह ने म्यूनिख के समझौते के पक्ष में वोट देने से इन्कार किया था। मान लीजिये कि उनके विरोध का नतीजा यह होता कि टोरी-सरकार के बदले मजदूर दल की सरकार आ जाती—जिस मजदूर-दल की नीति के वे और भी अधिक कट्टर विरोधी हैं—तो क्या वे उस हालत में भी म्यूनिख-समझौते के विरोध में मतदान करते?

जब श्री गेटस्केल ने सहयोग का प्रस्ताव किया, तो उनकी दृष्टि के सामने एक प्रसिद्ध पुरानी घटना रही होगी। वह पुरानी घटना है चेम्बरलेन की पराजय! सरकार का दो हजार का बहुमत क्षीण होकर इक्यासी तक उतर गया और चेम्बरलेन परास्त हुआ। फिर भी जरा उस वक्त की परिस्थिति की तरफ ध्यान दीजिये। देश एक जागतिक युद्ध की मँझधार में था। सवाल नीति का नहीं था, बल्कि इतना ही था कि उस नीति का अमल कौन करे?

श्री गेटस्केल इससे कहीं बड़े उलट-फेर की माँग कर रहे हैं। यह सच है कि श्री गेटस्केल टोरीपार्टी को सत्ता में बनाये रखने का वादा करते हैं। लेकिन एक नपे-तुले उद्देश्य के लिए। टोरियों के मन में कोई शक नहीं है कि अगर वे आज श्री गेटस्केल के प्रस्ताव को मान लेते हैं, तो थोड़े ही दिनों में मजदूर-दल की हुकूमत कायम होगी।

सरकार की नीति में इतना अधिक परिवर्तन हो सकता है कि

उसके समर्थकों की जो स्वाभाविक निष्ठा है, वह भी खण्डित हो जाय और वे नैतिक दृष्टि से अपने आपको विद्रोह करने के लिए स्वतन्त्र मानें। परन्तु सवाल यह है कि क्या वे विद्रोह करें ? यह एक ऐसा अवसर है, जहाँ बर्क का मौलिक सूत्र अपने शुद्ध और पूर्ण रूप में लागू हो सकता है।

मतदाता और समाचार-पत्र पार्लमेंट के हर सदस्य को भले ही उसका कर्तव्य जतलाते रहें, लेकिन आखिर यह सवाल उसकी आत्मा के प्रत्यय का और बुद्धि के निर्णय का ही है।

(मूल अंग्रेजी से अनूदित) —ईयान ट्रेथोवॅन

रमण महर्षि के सान्निध्य में

मैं क्षिप्र गति से बड़े कमरे की ओर बढ़ा और सुविधापूर्वक दीवार के निकट बैठ गया। महर्षि मेरी ओर फिरे। उन्होंने अपनी मुख-मुद्रा ऐसी प्रदर्शित की, मानो वे मेरा अभिवादन कर रहे हों। मैंने बिना किसी झिझक के उनसे सीधा प्रश्न किया : "योगियों का कथन है कि यदि कोई सत्य का अनुसन्धान करना चाहे, तो उसे संसार के कोलाहल से पूर्णतया मुक्त होकर किसी एकान्त अरण्य में अथवा पर्वत की कन्दरा में जाकर साधना करनी चाहिए। किन्तु हमारे यहाँ पश्चिम में यह बात अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हम लोगों के रहन-सहन की विधि सर्वथा भिन्न है। क्या आपको योगियों का यह मत मान्य है ?"

महर्षि ने मुड़ कर अपने एक विनम्र ब्राह्मण शिष्य की ओर देखा। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका अंग्रेजी अनुवाद उसने मुझे सुनाया। महर्षि ने कहा : "कर्ममय जीवन का त्याग आवश्यक नहीं है। यदि आप प्रतिदिन घण्टे-दो-घण्टे के लिए भी चित्त एकाग्र करें,

तो उसके साथ आप अपना नित्य का कार्य चलाये रख सकते हैं। चित्त की एकाग्रता और ध्यान करना यदि सही ढंग से हो, तो मन से जो एक प्रकार की भाव-धारा प्रवाहित होगी, वह आपके अन्य कार्यों के साथ ही चलती रहेगी। ऐसा समझिये कि एक ही विचार व्यक्त करने के दो तरीके हैं। जो ढर्रा आप ध्यान में चलायेंगे, वही आपके नित्य के कार्यों में भी अभिव्यक्त होगा।"

"इसका परिणाम क्या होगा ?"

"यदि आप अपने अभ्यास में लगे रहेंगे, तो आप यह अनुभव करेंगे कि लोगों की घटनाओं के अथवा सांसारिक सभी पदार्थों के प्रति आपकी वृत्ति क्रमशः बदलती जायेगी। आपके कार्य और आपकी प्रवृत्तियाँ आपके ध्यान के अनुरूप अपने आप बनती चली जायेंगी।"

"तब आपको योगियों का विचार मान्य नहीं ?"—मैंने उनसे सीधे-साधे पूछना चाहा; लेकिन महर्षि ने सीधा उत्तर नहीं दिया।

उन्होंने कहा : "संसार के बन्धन में डालने वाली स्वार्थ की प्रवृत्तियों का मनुष्य को त्याग कर देना चाहिए। मिथ्या 'अहं' का त्याग ही वास्तविक त्याग है।"

"सांसारिक कार्यों में लिप्त रहते स्वार्थ का सर्वथा त्याग किस प्रकार सम्भव है ?"

"कर्म और ज्ञान में कोई विरोध नहीं है।"

"क्या आपका ख़याल यह है कि अपनी तमाम सांसारिक कार्रवाइयों में लगे रहकर भी मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है ?"

"क्यों नहीं ! लेकिन वैसी हालत में साधक यह नहीं सोचेगा कि उसका वह पुराना स्वरूप ही सब कार्य कर रहा है, क्योंकि उसकी चेतना क्रमशः उस एक में केन्द्रित होती जायगी, जो इस 'स्व' से सर्वथा भिन्न और पृथक् होगी।"

"यदि कोई अपने रोज-रोज के काम में लगा रहे, तो ध्यान और चिन्तन का समय ही उसके पास कहाँ रहेगा ?"

महर्षि को मेरे प्रश्न से किसी प्रकार की घबराहट नहीं हुई। उन्होंने कहा : "चिन्तन और ध्यान के लिए अलग से समय निकाल लेना प्रारम्भिक अवस्था में ही आवश्यक होता है। आगे चल कर साधक को उस अनन्त सौन्दर्य से अपने आप सुख प्राप्त होने लगेगा, चाहे वह काम करे या न करे। शरीर से वह सामाजिक (सांसारिक) जीवन व्यतीत करेगा और मन तथा चित्त से वह एकनिष्ठ होकर उस सत्य के चिन्तन में रत रहेगा।"

"तब आप योग की विधि नहीं सिखाते ?"

"जैसे चरवाहा लाठी से बैल को हाँक कर ले चलता है, उसी प्रकार योगी अपने मन को निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाता है। किन्तु इस मार्ग में यह बात अवश्य है कि साधक कभी-कभी प्रलोभन में फँस जाया करता है।"

"इसकी विधि क्या है ?"

"आपको अपने आप जिज्ञासा करनी होगी कि मैं कौन हूँ। इस प्रकार की जिज्ञासा का फल यह होगा कि आप इस बात को जान पायेंगे कि हमारे अन्दर मन से भी ऊपर कोई चीज है। उस ऊपर वाली चीज़ का बल लगा लीजिये। फिर आप सब कुछ जान जायेंगे।"

जब तक महर्षि के उत्तर पर विचार करता रहा, तब तक वातावरण बिल्कुल निस्तब्ध रहा। दीवार में बने जालीयुक्त चौकोर छिद्र से, जो खिड़की का काम देता था और जैसा कि प्रायः सभी भारतीय मकानों में होता है, मैं पावन गिरि के निम्न पार्श्व का मनोरम दृश्य देखता रहा।

उसी समय महर्षि ने मेरी ओर देखकर कहना आरम्भ किया,

"अगर इसको इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, तो और भी स्पष्ट होगा। सभी मनुष्य सर्वदा ऐसे सुख की कामना करते हैं, जिसके साथ शोक या दुःख न लगा हो। वे ऐसे सुख की कामना करते हैं, जो अनन्त हो। यह वृत्ति तो ठीक है। लेकिन क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि वे इस 'स्व' पर ही अधिक अनुरक्त हो जाते हैं।"

"तब फिर ?"

"अब इसके साथ इस बात पर भी विचार कीजिये कि वे एक-न-एक साधन से सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं, चाहे वह सांसारिक भोगों से हो या पुण्याचरण से हो। तब आपको मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का बोध हो जायगा।"

मैं कहने लगा—"मैं समझ नहीं पाया" और तभी महर्षि ने कुछ उच्च स्वर में कहा : "मनुष्य की वास्तविक प्रकृति सुख-परक है। सुख की भावना उसने अन्तर्तम में सहजात है और इस प्रकार सुखानुसन्धान की उसकी वृत्ति अचेतन रूप से उसके वस्तुतत्त्व की शोध ही है। वह वस्तुतत्त्व अविनाशी है, अतः जब वह उसे प्राप्त कर लेता है, तो उसे ऐसा सुख प्राप्त हो जाता है, जो निरन्तर होता है।"

"लेकिन फिर संसार में इतनी सुख-शून्यता जो व्याप्त है ?"

"अवश्य, लेकिन इसका कारण यह है कि लोग वास्तविकता से अपरिचित हैं। वैसे जान अथवा अनजान में सभी लोग इसकी शोध में रत रहते हैं।"

मैंने पूछा, "क्या शठ स्वभाव, पाशविक वृत्ति और अपराधो प्रकृति के लोग भी ?"

"निश्चय ही, वे भी जो कुछ पाप-कर्म करते हैं, वह इसीलिए कि वे आनन्द की प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं। वे समझते हैं

कि अपने उस कृत्य से वे सुख प्राप्त कर सकेंगे। सुख की यह शोध मनुष्य में स्वभाव-जन्य है, किन्तु ये अपराधी प्रकृति वाले लोग यह नहीं जानते कि वे जो कुछ करते हैं, उसके माध्यम से वे अपने सच्चे स्वरूप की शोध में लगे हुए हैं। यही कारण है कि वे सुख-प्राप्ति के लिए दुष्कर्म का आश्रय लेते हैं। सच बात यह है कि वे गलत मार्ग पर चलते हैं, क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, उसका प्रतिफल उसके ही सिर आता है।"

"तो हमें असीम की प्राप्ति तभी होगी, जब हम अपने 'सत् स्वरूप' को पहचान लेंगे ?"

महर्षि सिर हिलाकर रह गये। उस खिड़की से महर्षि के मुख-मण्डल पर सूर्य की तिरछी किरणें पड़ रही थीं। उनके प्रकाश में मैंने देखा—महर्षि का पवित्रता से पूरित गम्भीर वदन, परितोष-परिवृत्त उनकी दृढ़ मुख-मुद्रा और आश्रमवत् शान्तिदायी, तेजोमय उनके दीप्त नेत्र, किन्तु उनके बली-विनिर्मुक्त मुख-मण्डल से इन दिव्य वचनों की सत्यता स्पष्ट ही प्रतिभासित हो रही थी।

मैं सोचने लगा कि इन सरल और सीधे लगने वाले शब्दों द्वारा कौन सा भाव महर्षि व्यक्त करना चाहते हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि दुभाषिये ने उनके शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद मुझे सुना दिया, किन्तु क्या इतनी-सी ही बात महर्षि कहना चाहते थे ? नहीं, अवश्य ही इनके पीछे कुछ गम्भीर आशय छिपा हुआ है। इसलिए मुझे स्वयं उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए। यह साधु पुरुष न तो किसी दार्शनिक की भाषा बोल रहा है और न किसी ऐसे पण्डित की भाषा बोल रहा है, जो अपना सिद्धान्त हमारे ऊपर लादना चाहता है। वह तो अपने हृदय के भाव बहुत ही स्पष्ट भाषा में उँड़ेल रहा है।

—पॉल ब्रंप्टन

('ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया' से)

सच्ची उदारता

माता सेथिल्डे कुछ कम रूखेपन से बोली, "प्रत्यक्ष कृति में उदार होना आसान है। कृति के गवाह होते हैं। हर कोई उसे देख सकता है। हर एक के दिल पर उसका असर होता है। दुनिया में क्रियात्मक उदारता बतलाने वाला दूसरों से अलग दिखायी देता है, उसे एक तरह की कीर्ति मिलती है। लेकिन बहन, विचार की उदारता–वह मूक, अदृश्य, निरपेक्ष प्रेम, जो हमेशा दूसरों को पहला स्थान देता है और अपने आपको अन्तिम स्थान देता है—उसकी कमी आज आपको महसूस हुई है।"

('द-नन्स-टोरी' से) —कँथ्यून हुल्मे

विद्वान् बनाम 'केवल' विद्वान् !

'विद्वत्ता' शब्द का अर्थ हम लोग दूसरे देशों की अपेक्षा संकीर्ण करते हैं। हम उसको ग्रन्थज्ञान तक ही सीमित करते हैं। दर-असल, कोई भी कारीगर, यदि वह अपने व्यवसाय का रहस्य और तत्त्व जानता हो, तो विद्वान् कहला सकता है। अच्छा राज, अच्छा मोची और इसी तरह के कुशल कारीगर, 'विद्वान्' संज्ञा के पात्र हो सकते हैं। देश के योग-क्षेम के लिए ऐसे विद्वान् उन दशग्रन्थी विद्वानों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हैं, जो कि एक कोने में बैठ कर किसी दीमक लगी हुई पुस्तक पर नज़र गड़ाये रहते हैं और मरे हुए मनुष्यों से ही वार्तालाप करते हैं। देश के लिए 'केवल विद्वान्' की अपेक्षा अधिक मामूली और फालतू दूसरा कोई नागरिक नहीं है। —जेम्स हॉवेल

भूदान से ग्रामदान तक

....विनोबाजी को देश भर में १७०० ग्रामदान प्राप्त हो चुके हैं। प्राप्त भूमि में से कुछ का बँटवारा भूमिहीनों में हो चुका है, जो इस बात का प्रमाण है कि इस आंदोलन ने समानता और सामाजिक न्याय की स्थापना में पूर्ण योगदान किया है। प्राप्त भूमि को, खेती करने की इच्छा रखने वालों को देते समय, उसे खेती योग्य बनाने की समस्या सम्पत्तिदान के रूप में जो कुछ निधि संग्रहित हुई, उसका उपयोग करके किसी अंश तक हल की गयी। परिणामस्वरूप सैकड़ों ऐसे परिवारों को खेती करने योग्य और उसके माध्यम से जीविका चलाने योग्य बनाया जा चुका है, जिनके पास निर्वाह की कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी। इतना होने पर भी आन्दोलन के अपने साधन इतने अपर्याप्त हैं कि चालीस-बयालीस लाख एकड़ भूमि का ठीक तरह से बँटवारा करना और उसे व्यवस्थित करना बहुत सरल काम नहीं, क्योंकि उसमें कुछ जमीन अच्छी और कुछ बुरी भी है।

तो यह सरकार का काम है कि वह इस समय आगे आवे और किसानों की सहायता की जिम्मेदारी अपने सिर ले, जिससे भूदान में प्राप्त जमीन का ठीक उपयोग खेती के काम में हो सके।....कितने आश्चर्य की बात है कि सरकार भूदान-आन्दोलन के जरिये उत्पन्न वातावरण से समुचित लाभ उठा कर भूमि-समस्या त्वरित गति से हल करने के लिए सचेष्ट नहीं हो रही है? विनोबा भावे ने एक बार कहा था कि यदि एक ही क्षेत्र में कुछ गाँव ग्रामदान के रूप में मिलें, तो सर्वोदय के आदर्श पर समाज को ढालने का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

अब इसका अवसर भी आ गया है। उड़ीसा के कोरापुट जिले में विनोबाजी जो अब तक १२२६ गाँव प्राप्त हो चुके हैं, जहाँ वे

सर्वोदय-समाज की रचना के लिए व्यवस्था कर चुके हैं। मदुरा जिले में भी उन्हें अब तक पूरे के पूरे ५० गाँव मिल चुके हैं और अब वे अलग-अलग गाँव की माँग से आगे बढ़कर पूरे तालुकों की माँग पर उतर आये हैं। इन क्षेत्रों में ही आत्म-निर्भरता, बुनियादी तालीम और सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी गाँधीवादी विचारों का परीक्षण और प्रयोग किया जा सकता है।

इस समय तात्कालिक कार्य, जैसा कि विनोबाजी ने कहा है, यह है कि ऐसे कार्यकर्ता तैयार किये जायँ, जो बिना किसी प्रकार के लाभ की इच्छा से इस आन्दोलन में जुट जायँ। यह देखना है कि भूदान-आन्दोलन में लगे कार्यकर्ताओं में से अब कितने ऐसे कार्यकर्ता निकलते हैं। विघटित भूदान-आन्दोलन के स्थान पर हर जिले में भूदान-संगठन-कर्ताओं की नियुक्ति से अब इस बात का पता चलेगा कि जिस समस्या की ओर एक विशेष संस्था के आदर्शात्मक और संघटनात्मक स्वरूप के कारण बहुत कम लोगों का ध्यान रहा है, उसकी ओर अब कितने लोगों को प्रवृत्ति होती है।

('टाइम्स ऑफ इण्डिया' जनवरी ९, १९५७ से)

विद्रोहात्मक प्रयोजन

हमें एक नये प्रयोजन का भान प्राप्त करना चाहिए। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस प्रयोजन का एक रास्ता होगा, विश्व को यंत्र मानने वाले तत्त्वज्ञान के विरुद्ध विद्रोह और उस तत्त्वज्ञान के भी विरुद्ध विद्रोह, जो मनुष्य और दूसरे प्राणियों को एक आर्थिक यंत्र के कलपुर्जे समझता है।

—लॉर्ड नॉर्थ बोर्न

बेसुध इन्सान

पूरब की एक कहानी है। एक बहुत धनवान् जादूगर के पास बहुत-सी भेड़ें थीं। जादूगर बड़ा कमीना था। वह न तो गड़रियों को नौकर रखना चाहता था और न जहाँ उसकी भेड़ें चरती थीं, उस चरोखर को बाड़ से घेरना चाहता था। इसलिए भेड़ें अक्सर जंगल में भटकती रहतीं, कभी खाइयों में गिर जातीं और कभी भाग जातीं, क्योंकि वे जानती थीं कि जादूगर उनकी खाल और गोश्त चाहता है। और उनको यह पसन्द नहीं था।

निदान, जादूगर ने एक तरकीब निकाली। उसने सारी भेड़ों पर जादू का असर डाला और उनको मोहित कर लिया। उसने सबसे पहले उन्हें यह समझाया कि तुम अमीर हो और जब तुम्हारी खाल उतारी जाती है, तो तुम्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाया जाता। बल्कि उसमें उनकी भलाई है और उसमें उन्हें आनन्द होना चाहिए। दूसरी बात उसने यह समझायी कि मैं एक नेक मालिक हूँ और मैं तुमको इतना प्यार करता हूँ कि तुम्हारे लिए मैं चाहे जो करूँगा। तीसरी बात उसने यह समझायी कि अगर तुम्हारा कुछ नुकसान होने ही वाला हो, तो कम से कम इसी क्षण तो कुछ नहीं होगा, कम से कम आज कुछ नहीं होगा, इसलिए उसकी फिक्र करने की कोई जरूरत नहीं। इसके अलावा जादूगर ने उनको यह भी समझाया कि भेड़ों, तुम भेड़ें हो ही नहीं। कुछ भेड़ों से उसने कहा कि तुम शेर-बबर हो, कुछ से कहा, तुम गरुड़ हो, कुछ से कहा, तुम मनुष्य हो और कुछ से कहा, तुम जादूगर हो।

इसके बाद भेड़ों के बारे में उसकी सारी फिकर और परेशानी खतम हो गयी। फिर वे कभी नहीं भागीं और चुपचाप उस दिन की

राह जोहती रहीं, जब कि जादूगर को उनके गोश्त और खाल की जरूरत होगी।

यह किस्सा मनुष्य की हालत का बहुत अच्छा उदाहरण है।

[मूलअंग्रेजी से अनूदित] —जार्ज गुर्ज्जीफ

समाजवाद का सही स्वरूप

मेरी धारणा के अनुसार समाजवादी उस प्रवृत्ति का प्राणी है, जो यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज के प्रबन्ध में भाग लेने का समान रूप से अधिकार है। साथ ही उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह अन्य समाजों (देशों) के सदस्यों के साथ मिल कर इस बात के लिए प्रयत्न करे कि प्रत्येक देश में मानव मात्र की समानता के आधार पर समाज का संघटन हो। इसमें सन्देह नहीं कि सब लोगों की योग्यता एक-समान नहीं होती और न सबकी कार्यक्षमता ही एक तरह की होती है, किन्तु समाजवादी यह कहता है कि जहाँ तक व्यवहार्य हो, सबके अधिकार समान समझे जायें। जो ठीक-ठीक यह भाव ग्रहण करे, वही यथार्थतः समाजवादी हैं और इस आधार पर ही वह अपने साथियों से समाजवादी व्यवस्था खड़ी करने में समर्थन की माँग करता है। यदि वह यह बात भूलता है, या इसे ठीक तरह से समझ नहीं पाता और फिर भी अपने को समाजवादी कहता है, तो वह वंञ्चना करता है और निश्चय ही शिष्ट लोगों का समर्थन पाने का अधिकारी नहीं है। यद्यपि मेरी यह बात कड़वी लगेगी, किन्तु यथार्थता देख कर ही इसे कहना पड़ रहा है।

('वर्ल्ड सोशलिज्म रीकन्सिडर्ड' से) —जी. डी. एच. कौल

गांधी की बात

गांधीजी की बहुत ही तारीफ हुई। हालाँकि कुछ ने उनकी बुराई भी की और कुछ उन्हें समझ भी न पाये। लेकिन बहुत-सों ने तो उनको 'महान्' ही समझा और 'युग-पुरुष' ही माना। कितनों ही की सराहना सच्ची होते हुए भी, स्थूल ही रही। आजादी की लड़ाई के दिनों में गांधी को जेल में चरखा कातते हुए तस्वीरों में दिखलाया गया, जिनमें भगवान् कृष्ण उन्हें कपास की पूनी अपने हाथों दे रहे हैं। ऐसी बातें भी उड़ीं कि गांधीजी को अंग्रेजों ने अहमदनगर की जेल में बन्द कर दिया; लेकिन फिर भी चौपाटी पर लेक्चर देते नजर आये, वगैरा। बहरहाल, वे सब उन लोगों के अन्धविश्वासी प्रयास थे, जो किसी भी इन्सान को,सिवाय उसके अजीबोगरीब तरीके से जादूगर-सा ताकतवर बने, महान् या उच्च समझ ही नहीं सकते।

परन्तु इस स्थूल दृष्टिकोण और मोटी श्रद्धा में भी एक 'सत्य' था। गांधी एक 'अवतारी' पुरुष था और उसका साथ विश्व की 'अन्तरात्मा' अथवा 'सामूहिक शक्ति' दे रही थी, इसमें भी भला क्या किसी को सन्देह हो सकता है ? और जादूगरी, तिलस्म-करिश्मे की बात कहो, तो मैं पूछता हूँ कि इससे बढ़कर करिश्मा क्या जो गांधी ने किया ? एक निहत्थे व्यक्ति ने अंग्रेजी हुकूमत को ललकारा, गोली-बन्दूक के आगे अपनी छाती की ! और मजा यह कि लाखों ने उसका साथ दिया। अंग्रेज भी आखिर भारत छोड़ कर कूच कर गये। यदि यह एक करिश्मा दुनिया के इतिहास मे एक अजीबोगरीब घटना (जो आज तक नहीं हुई) नहीं, तो क्या है ? क्या कमाल सिर्फ धोती को फाड़ कर रूमाल बना देता है ? नहीं, सबसे बड़ा कमाल तो आदमी का दिल बदल कर उसे झूठ से सच पर लगा, उसे शेरसा बहादुर बना, सोते से जगा देना है और गांधी ने यही कुछ तो किया।

कहाँ थी उसकी ताकत ? कौन-सा गोला-बारूद भरा था उसमें ? क्या उसने लोगों को लालच दिया था ? कहीं उन्हें डराया तो नहीं ? फिर कैसे उन्हें बहकाया कि वे उसके साथ लगे। गांधी की शक्ति कहाँ थी और कहाँ थो उसकी प्रेरणा ?

उसने खुद कहा, मैं तो मुल्क की आजादी के लिए इसलिए लड़ रहा हूँ कि यदि मैं ऐसा न करूँ, तो मुझे मुक्ति नहीं मिलेगी। उसके लिए तो यह ईश्वर का काम था—'ईश्वर का हुक्म और धर्म का काम'—कि मुल्क की आजाद कराये। उसे अंग्रेजों से बैर नहीं था; न ही राज-भोग की चाह थी। उसे तो केवल अपना धर्म निभाना था, कर्तव्य पालन करना था, भले ही उसमें उसकी जान जाती (और गयी ही) या रहती; वह जीतता या हारता; उसे तो अपना काम करना था और वह उसे पूरा करके ही रहा। धन्य है 'वह'।

उसमें सिर्फ एक शक्ति थी और एक था बल—आत्मबल। इसके अलावा एक और थी उसकी चाल—सोलह आने साफ-निष्कपट होना, दिल की सच्चाई, और विरोधी से भी उतना ही प्यार करना, जितना कि सगे-सम्बन्धी, मित्र-बंधु से। ऐसी ही आत्मिक शक्ति अंग्रेजों को मात दे गयी। उसके सीधे-सादे साफ-साफ और सच्चे-सच्चे 'बेजोड़-पैतरों' के आगे उनकी कूटनीति की भी एक न चली। निस्सन्देह, हमारी आजादी मिलने में दूसरे कितने ही कारण भी रहे; परन्तु जहाँ तक हमारे खुद के पुरुषार्थ और उद्योग का सवाल है—गांधी की देन अमूल्य है।

और एक बात में तो वह बहुत ही 'विशेष' रहा। मानव को बतला गया कि कैसे अन्याय, अत्याचार अथवा शोषण का विरोध, बिना हथियार, बिना शारीरिक बल—केवल 'असहयोग और सत्याग्रह' द्वारा किया जा सकता है। मेरे खयाल में तो मानव-इतिहास में उसने एक नये युग का ही सूत्रपात किया है।

('जीवन-साहित्य' से) —मनसुखा

लोकतन्त्र का आधार : सहिष्णुता

लोकतंत्र तभी टिक सकता है, जबकि उसका आधार सहिष्णुता हो। परन्तु हम देख रहे हैं कि आजकल भी असहिष्णुता का बाजार गर्म है, जिसके चलते बहुत से लोगों के मन में कुछ गलत धारणा उत्पन्न हो गई है और इस प्रकार वास्तविक लोकतन्त्र के मार्ग में एक प्रकार की बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसी अवस्था में यह अनुचित न होगा, यदि हम इस बात पर विचार करें कि वस्तुतः सहिष्णुता है क्या चीज़।

सहिष्णुता लोकतन्त्र का आधार है। परन्तु मनुष्य की नैतिकता का यह एक व्यक्त रूप है। यह एक प्रकार की ऐसी विशेषता भी है, जिसके कारण कोई व्यक्ति दूसरों के दुर्गुणों या दोषों को जानते हुए भी उसके प्रति सहिष्णुता का भाव दिखाता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि, वह दुर्गुणों का तो विरोध करता है, किन्तु दोषी व्यक्ति के प्रति अपने मन में कोई दुर्भाव नहीं ले आता। लेकिन हम आम तौर से जिसे सहिष्णुता कहते हैं और जो वस्तुतः विचारणीय है, वह धार्मिक विश्वासों या राजनीतिक मान्यताओं से ही सम्बन्ध रखती है। यह एक प्रकार की सार्वजनिक नैतिकता का प्रश्न है, जिसके अनुसार लोग अपने धार्मिक विश्वासों या राजनीतिक मान्यताओं से भिन्न मत-वालों को तरह देते हैं। यह सार्वजनिक नैतिकता का प्रश्न वैधानिक सिद्धान्त की बात हो गयी है।

धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में जिस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य राजनीतिक सिद्धान्त की बात हो गयी है, उसी प्रकार सहिष्णुता का सिद्धान्त प्रतिस्पर्धी धार्मिक समाज अथवा वर्गगत विरोध पक्ष के सम्बन्ध में भी अग्रसर किया गया है। एक उदाहरण लीजिये—जब एक ओर ईसाई धर्म के मानने वाले हों और दूसरी ओर इस्लाम के मानने वाले हों, या ईसाई धर्म के अन्तर्गत ही, जब एक ओर

कैथोलिक हों और दूसरी ओर प्रोटेस्टेन्ट हों, तो निश्चय ही दोनों पक्षों के बीच शत्रुता उत्पन्न हो सकती है, जिसके चलते उभय पक्षों के बीच घृणा का भाव बढ़ सकता है। ऐसी अवस्था में सहिष्णुता के सिद्धान्त की आवश्यकता बहुत अधिक मालूम पड़ती है। जब कि समाज के अन्दर कई प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हों तो सहिष्णुता का महत्व बढ़ जाता है। यह जरूर है कि उनकी साम्प्रदायिक असहिष्णुता उतनी उग्र नहीं होती, जितनी दो धर्मों के मानने वालों की होती है।

राज्य और नागरिक तथा स्वयं नागरिक-नागरिक के बीच भी सहिष्णुता आवश्यक है। यह बात इस उदाहरण से समझिये—ब्रिटेन में 'ऐंग्लिकन् एपिस्कोपल चर्च' राज्य का मान्य धर्म है, वहाँ कैथोलिकों या गैरकॉन्फार्मिस्टो को इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जाता कि वे राज्य का धर्म स्वीकार कर लें। ठीक उसी तरह उन देशों में, जहाँ रोमन कैथोलिक धर्म राज्य-धर्म के रूप में मान्य है, प्रोटेस्टेन्टों या गैर कैथोलिकों को रोमन कैथोलिक धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, बल्कि होता यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी मान्यता के अनुसार धर्म स्वीकार करने की छूट रहती है। सहिष्णुता की यह नीति धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में तो मान्य है ही, अन्य प्रकार के विषयों में भी, जैसे विचारों और सिद्धान्तों में इसे प्रचलित किया गया है।

नागरिक और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में नागरिकों की सदा से यह माँग रही है कि उनके साथ राजनीतिक सहिष्णुता का व्यवहार किया जाय और इसे अनेक देशों के संविधानों ने विचारों और विश्वासों की स्वतंत्रता के रूप में स्वीकार भी किया है। उनको इसलिए ऐसी स्वतंत्रता प्रदान की गयी कि जिसमें अपनी प्रचण्ड शक्ति के द्वारा राज्य कहीं असहिष्णु होकर

उनका दमन न करने लगे। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय, तो सहिष्णुता का अर्थ है राजनीतिक नैतिकता, और स्वतंत्रता के आश्वासन का अर्थ है सहिष्णुता का आश्वासन।

('यूनाईटेड एशिया' से) —कोटारो तनाका

वैभव का मूल : परिवर्तन

एक समय था, जब कि वैभव के अनार्य प्रदर्शन का प्रभाव लोगों के मन पर होता था। अब वह प्रभाव कम हो गया है और होता जा रहा है; बल्कि अब तो उसका अधिकाधिक विपरीत परिणाम ही फैलता हुआ दिखायी देता है। इसके बाद अमेरिका और इंग्लैंड के धनवानों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए दान-धर्म का सहारा लिया। इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि 'दान' शब्द, जिसकी कि उन्नीसवीं शती के परापकारवादियों ने बिलकुल मिट्टी पलीत कर दी थी और भी गिरने लगा। अब उस शब्द का व्यवहार ही टालना पड़ रहा है। सार्वजनिक और राष्ट्रीय निधियों को देनगियाँ देने के अनेक प्रयोगों के बाद अब धनवानों को यह भली भाँति मालूम हो गया है कि धन के लिए सबसे बेहतर चीज़ है, उसके बारे में चुप रहना; और अब जो दूसरा सवाल निश्चित रूप से पैदा होगा, वह यह है कि सुख से जीवन बिताने के लिए जितना जरूरी है, उससे ज्यादह इकट्ठा करने में क्या कोई मतलब है? आखिर मनुष्य की जरूरतों की एक हद है। जीवन के दूसरे बैभव, खासकर दूसरों के मन में हमारी इज्ज़त, जिसकी कि हममें से बहुतेरे इतनी क़दर करते हैं, अब तो पैसे की मंडी से उठ चुके हैं।

('टू लिव इन मैनकाइंड' से) रेजीनॉल्ड रेनॉल्ड्स

हिंसा का आधार गलत

समाजवाद का तत्त्व यह है कि यह ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहता है, जिसके अनुसार समाज के सभी सदस्यों को अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त हो और वे कुशलपूर्वक रह सकें तथा उनके कष्ट घटें और रहन-सहन के बुरे तरीके दूर हों। ऐसी व्यवस्था तभी सम्भव है, जब लोग दूसरों के प्रति अच्छा व्यवहार करें और उन्हें पीड़ा पहुँचाने या कष्ट में डालने में हर्ष का अनुभव न करें। किन्तु समाज के नवनिर्माण के अपने प्रयत्न में यदि लोग अपने विरोधियों को कष्ट पहुँचाते रहें, तो वे सद्व्यवहार की बात नहीं सीख सकते। प्रेम और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की स्थापना घृणा और द्वेष के आधार पर नहीं हो सकती, न तो वह शक्ति और हिंसा का सहारा लेकर ही स्थापित किया जा सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि हिंसा और शक्ति का उपयोग हो ही, किन्तु यदि अनिवार्य रूप से उसकी आवश्यकता पड़ जाय, तो उनका कम-से-कम प्रयोग करना चाहिए और करते समय इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि इनका प्रयोग करने वालों को और जिस उद्देश्य से इनका प्रयोग किया जाता है, उसको भी इनसे क्षति पहुँचती है। वह समाज कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। जिसके सदस्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति का सामान्य तरीका हिंसा को मानते हैं, जहाँ समाजवाद की स्थापना हिंसा के आधार पर होती है, वहाँ उस पर हिंसा की छाप बराबर लगी रहती है, जिससे मुक्त होने के लिए उसे बराबर संशुद्धि की आवश्यकता रहती है।

—जी० डी० एच० कौल

दुनिया में भुखमरी क्यों है ?

दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों में भुखमरी की अवस्था उत्पन्न करने की जिम्मेदारी उन लोगों पर है, जिन्होंने व्यावसायिक कारणों से यहाँ की उपजाऊ भूमि को पिछले १००-५० वर्षों के भीतर अनेक प्रकार से नष्ट कर डाला। व्यवसायियों का यह कुचक्र इतना भीषण रहा कि इस महादेश की उर्वरा भूमि आज बंजर हो गयी है और यहाँ के निवासियों के लिए भरपेट भोजन करने का प्रबन्ध करने में भी असमर्थ है। इस दुष्चक्र के चलते यहाँ की भूमि सोने की खानों का पता लगाने के लिए, गन्ने का उत्पादन करने के लिए, कॉफी उगाने के लिए, रबर प्राप्त करने के लिए, तेल प्राप्त करने के लिए विनष्ट कर डाली गयी या उस पर लाभकर पौधे लगाये गये और इन सबका परिणाम यह हुआ कि जिस भूमि में सभी प्रकार के खाद्यों को उत्पन्न करने की क्षमता थी, उसका उपयोग विशिष्ठ लाभकर, एक ही प्रकार के उत्पादन-माध्यम से व्यर्थ कर दी गयी। भूमि की प्रकृत विशेषता तो नष्ट ही हुई, खाद्य-सुलभ कराने की उसकी क्षमता भी जाती रही।

उदाहरण लीजिये। ब्राजील के उत्तर-पूर्व में बहुत बड़े पैमाने पर गन्ने की खेती को जाती है। एक समय ऐसा था कि इस भूमि-खण्ड में उष्णकटिबन्धीय सभी प्रकार के फल-फूल-अन्न तथा अन्य सामग्रियाँ विपुल परिमाण में उत्पन्न होती थीं। यहाँ का जलवायु कृषि के सर्वथा अनुकूल एवं उपयुक्त था और यहाँ जो जंगल लगे थे, उनमें से अधिकांश वृक्ष अच्छे फल देने वाले थे। आज इन सबको नष्ट कर यहां गन्ने की खेती आरम्भ की गयी है। फूल-फल, साग-सब्जी उगाने की सुविधा न होने, पशु-पालन के लिए संकट होने तथा गन्ने की खेती के कारण उर्वरा शक्ति क्षीण होने का यह दुष्परिणाम हुआ कि ऋतु-ऋतु में उत्पन्न होने वाले अनाज समय

से नहीं उगाये जा सकते हैं और जो कुछ थोड़ा बहुत श्रम इनके लिए किया जाता है, वह भी नष्ट हो जाता है। प्रकृति का यह नियम है कि भूमि के एक टुकड़े पर एक ही वस्तु, एक ही पदार्थ की खेती नहीं की जा सकती है। ऐसा करने से भूमि की उत्पादन-क्षमता घट जाती है। गन्ने की ही खेती करने से गन्ने की उपज तो कम हो ही गयी है और पदार्थों के लिए अनुकूलता नहीं रह गयी है।

एक दूसरी बात यह है कि शोषक समुदाय ने बहुत बड़े-बड़े फार्म खड़े करके नकदी फसलें उगाने की बड़ी योजना बना रखी हैं, जिनका निर्यात करके तुरंत पैसा प्राप्त कर लेने का प्रयत्न किया जाता है। एक ही पदार्थ के उत्पादन की भाँति और नक़दी फसलें उगाने की पद्धति ने मिल कर इस महादेश को चौपट कर डाला है। यदि यह ढंग जारी रहा, तो यहाँ न तो व्यवस्थित ढंग से कृषि का विकास हो सकेगा और न फिर लोगों को खाने भर के लिए अन्न प्राप्त हो सकेगा। दक्षिण अमेरिका के देशों की भूमि के सम्बन्ध में संग्रहीत निम्नलिखित आँकड़ों से वस्तुस्थिति समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

अर्जेण्टाइना के ब्यूनर्सआयर्स प्रान्त में, जिसकी जनसंख्या ३५ लाख है, केवल १२० परिवारों के हाथ में प्रान्त की ४० प्रतिशत भूमि है। अर्जेण्टाइना के दूसरे प्रान्त सान्ताफे में १८९ बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ हैं और इनमें से प्रत्येक के पास औसतन ६२ हजार एकड़ भूमि है। चावल की मध्यम घाटी में, जहाँ देश की ८० प्रतिशत जनसंख्या बसती है तथा जहाँ देश की सबसे अधिक खेती होती है, भूमि का अधिकांश भाग बड़े-बड़े जमींदारों के हाथ में है, क्योंकि प्रान्त में ४३७ फार्मों में ही प्रान्त की ८३ प्रतिशत भूमि केन्द्रित हो गयी है और शेष १७ प्रतिशत भूमि ५९३७ छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी है। ("जॉग्रफी ऑफ़ हंगर से)

क्रान्तिकारी का कार्य

मार्क्स के शब्दों में—सुधारकों में आम अराजकता और फूट पड़ी है। वे सभी यह स्वीकार करने के लिए मजबूर हैं कि भविष्य के बारे में उनके पास कोई यथार्थ विचार नहीं है। तो भी नये आन्दोलन को यही एक बड़ा सुभीता है कि हम नयी दुनिया को रूढ़िवश पहले से कल्पित करना नहीं, बल्कि उसे पुराण की आलो-चना में खोजना चाहते हैं। अब तक पहेलियों के हल को दार्शनिक अपने लिखने की मेज पर तैयार रखे पाते थे, सारी बाहरी मूर्ख दुनिया को बस यही करना था कि आँखों को मूँद ले और पकी-पकायी परम-साइन्स को लेने के लिए मुँह खोल दे। फिलॉसफी ने अपने को बा-निष्पक्ष कर लिया है, जिसका सबसे बड़ा सबूत यही है कि दार्शनिक चेतना ने सिर्फ ऊपरी तौर से नहीं, बल्कि पूरी तौर से युद्ध की ज्वाला में अपने को डाल दिया है। हमारा कार्य यह नहीं है कि पहले ही से भविष्य को निर्माण करें और सभी समय की सभी समस्याओं का हल तैयार करें; बल्कि साथ ही वर्तमान दुनिया की निष्ठुरतापूर्वक आलोचना करना भी निश्चय ही हमारा काम है। निष्ठुरता से मेरा मतलब यही है कि न हम अपने निष्कर्षों से ही लोहा लेने में भय खायें और न वर्तमान राज्य-शक्तियों से लोहा लेने में।

—राहुल सांकृत्यायन

विकेन्द्रीकरण अनिवार्य है

मेरा विश्वास है कि दूसरी सारी चीजें बराबर हों तो, एक विशाल शहरी आबादी की बनिस्पत एक छोटी-सी देहात की आबादी हर तरह से अधिक स्वस्थ होगी। राजनीतिक दृष्टि से तो वह स्वस्थ होगी ही, क्योंकि वही यथार्थ में आबादी हो सकती है

और वहीं पर सजीव लोकसत्ता विकसित हो सकती है। शहरी जीवन के व्यक्ति-निरपेक्ष सम्बन्धों में और बड़े पैमाने पर चलने वाले कारखानों में वह लोकसत्ता स्थापित नहीं हो सकती।

विकेन्द्रित बस्तियों में हर व्यक्ति हवा में स्वास्थ्यपूर्ण उद्योगों में भाग ले सकता है और हर रोज अपने गाँव की बनी हुई ताजी चीजें इस्तेमाल कर सकता है। मैंने विकेन्द्रीकरण के सिलसिले में श्रम के पूँजी के प्रतिफल के सिद्धान्त का विचार किया है। यह स्पष्ट है कि यदि हम मेहनत के अनुपात में उत्पादन चाहते हों, तो विकेन्द्रीकरण अनिवार्य है।

इसका मतलब यह नहीं है कि कुछ शहरवासी लोग थोड़े समय के लिए कुछ देहाती लोगों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी हालत में नहीं रखे जा सकते। वे रखे जा सकते हैं और रखे गये हैं, लेकिन यह तभी सम्भव हुआ है, जबकि कुछ शहरवासियों का, उदाहरणार्थ-ब्रिटेन का, जीवन स्तर ऊँचा उठाने के लिए कुछ देहाती क्षेत्रों को उदाहरणार्थं भारत को व्यवस्थित रूप से लूटना पड़ा। यह लुटेरों की अर्थनीति है और अन्त में वह अपनी मिथ्या समृद्धि के स्रोत को सुखा देती है। ऐसीं परिस्थिति में श्रम के अनुपात में उत्पादन का नियम लागू नहीं किया जा सकता। इस सारी समृद्धि के लिए धरती का शोषण होता है और अन्त में उसका सत्त्व नष्ट हो जाता है। रोमन साम्राज्य के दक्षिण अफ्रिकी प्रदेशों के साथ यही हुआ। अकाल के समय परोपजीवी शहरी सभ्यता उस शोषित देहाती सभ्यता से भी अधिक कमजोर साबित होगी, जिसने अपने सत्त्व से उसे जिलाया है।

—रेजिनॉल्ड रेनॉल्ड्स

आज के मतदाता की बेबसी

वर्तमान काल में लोकतन्त्र का मुख्य तत्त्व मतदान-तन्त्र की विशालता के कारण अपने आप नष्ट हो जाता है। इसको आप निम्न उदाहरण में समझिये :

मान लीजिये कि आप अमेरिका के एक नागरिक हैं और राष्ट्रपति के निर्वाचन में आपकी दिलचस्पी है। तो सिनेट या कांग्रेस के सदस्य होने पर आपका प्रभाव भले ही अधिक हो सकता हो, परन्तु एक वोट से भी आपका पक्ष गिर सकता है और उस गिरने का असर वही होगा, जो एक लाख वोट से आपका पराजय होने पर होता। अगर आपकी राजनीतिक गतिविधि किसी छोटे-से क्षेत्र तक परिमित है, तो चाहे आप कुछ कर लें, परन्तु यदि आप सामान्य नागरिक मात्र हैं, तो वोट देने के सिवा आपकी कोई बिसात नहीं रह जाती। मैं तो नहीं समझता कि अमेरिका में किसी राष्ट्रपति का ऐसा चुनाव हुआ होगा, जब कि एकाध मतदाता की अनुपस्थिति से चुनाव-फल पर कोई असर पड़ा हो। ऐसी हालत में आप ऐसा महसूस करते होंगे कि एक सामान्य मतदाता की हैसियत से आप उसी तरह बेबस हैं, जिस तरह से अधिनायक-तन्त्र के अधीन रहने वाले बेबस हैं। इसमें शक नहीं कि आप भेड़िया-धसान के चिरन्तन मार्ग पर चल रहे हैं।

कम-से-कम इंग्लैंड में यह हालत नहीं है; क्योंकि वहाँ सारे देश का एक निर्वाचन-क्षेत्र नहीं बनता। १९४५ में मैंने एक उम्मीदवार के लिए कुछ प्रचार-कार्य किया था, जो ४६ के बहुमत से विजयी हुआ। यदि मान लिया जाय कि मेरे प्रयास से सिर्फ २४ आदमियों का मत-परिवर्तन हुआ, तो भी यह निश्चित है कि यदि मैं चुप बैठा रहता, तो चुनाव का नतीजा कुछ दूसरा ही हुआ होता। अगर मजदूर-दल को संसद में एक ही का बहुमत मिला होता, तो

निश्चय ही मैं अपने को बहुत महत्त्व का व्यक्ति गिनने लगता। खैर, जो भी अवस्था थी, उसमें इतना तो था ही कि मैं विजयी पक्ष की ओर होने का संतोष प्राप्त कर सका।

यदि लोग स्थानीय राजनीति में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगे, तो हालत काफी अच्छी हो सकती है। लेकिन ऐसा होता नहीं। इसकी वजह यह है कि बहुत से मसले स्थानीय स्तर पर नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर निर्णीत होते हैं। यह खेद की बात है कि मध्ययुग में लोगों के मन में अपने-अपने नगरों के प्रति जो गर्व का भाव होता था और अपने मण्डल में अपने नगर को प्रमुखता प्रदान करने की जो भावना रहती थी, वह आज नहीं रह गयी। बहुत दूर की बात नहीं है, इसी जमाने में स्टॉकहोम के निवासियों के मन में अपने टाऊन-हाल के प्रति जो विशिष्ट भावना थी, वह स्पृहणीय है। आज के इंग्लैंड के बड़े-बड़े नगरों में रहने वालों के मन में ऐसी कोई भावना ही नहीं देखने में आती।

("इम्पैक्ट ऑफ साइन्स ऑन् सोसायटी" से) —बरट्रेंड रसेल

समाजवाद क्रियात्मक बने

यदि किसी राजनीतिक सिद्धान्त को टिकाना है, तो उसे सिर्फ प्रेरणादायक ही नहीं क्रियात्मक भी होना चाहिए। समाजवाद इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता है। आज यह पुरानी मान्यताओं पर नहीं टिक सकता। यदि इसको कायम रहना है, तो वर्तमान पीढ़ी के लोगों में इसे अपने प्रति निष्ठा का भाव जागृत करना चाहिए तथा लोगों को सक्रिय बना कर अपनी उपयुक्तता प्रमाणित करनी चाहिए। यदि इससे लोगों को मानसिक स्फूर्ति और कार्य करने की प्रवृत्ति नहीं प्राप्त होती, तो यह प्रभावहीन होकर इतिहास के पृष्ठ पर ही स्थान पाने भर रह जायगा। ("ट्वेंटिएथ सेंचुरी सोशलिज्म" से)

समाज राज से नहीं चलता

राज केवल समाज के हाथ का उपकरण है, राज बनते-बिगड़ते हैं, उठते गिरते हैं। समाज सनातन है और उसकी नीति ध्रुव है। नैतिकता से अलग जीवन टिक नहीं सकता। यह सुविधा का प्रश्न नहीं है, सनातनता का प्रश्न है और नीति के स्रोत हमारे धर्म-शास्त्र हैं। समाज राज से नहीं चलता, धर्म से, धर्मज्ञ से, धर्म-शास्त्र से चलता है। धर्म ही है, जिससे लोकमत के माध्यम से, शासन अनुशासन में रहता है। यह निरी बुद्धि का प्रमाद है, जो राज्य को सम्पूर्ण स्वत्त्वाधिकारी मानता है। यह 'सॉवरेण्टी' का शब्द और विचार आप और उन पश्चिम के लोगों से चला है, जो शक्ति से दबते और शक्ति से दबाते आये हैं। राज्य को 'सॉवरेन्' मान लेना उन्होंने सिखाया। पर इतने राज्य ध्वस्त होते देख कर क्या अब भी बुद्धि का प्रमाद टिका ही रहेगा? सॉवरेण्टी कहीं है, तो धर्म-नीति के नियमों के साथ है। वे शाश्वत हैं और अमोघ हैं। उनके भंग पर न व्यक्ति, न राज्य, न कोई, न कुछ टिका है, न टिक पायेगा। सम्पूर्ण विश्व को धर्म धारण करता है, उससे च्युत होकर जो टिकने और उठने की सोचता है, वह पहले से भ्रान्त है। जगदीश्वर अपनी करुणा में ही उसे सहते हैं, अन्यथा आज ही वह गिरा हुआ है!

("जयवर्धन" उपन्यास से) —जैनेन्द्रकुमार

हम लोकशाही से दूर पड़ गये हैं

मुझसे कहा जायगा कि तुम तो लोकतन्त्रवादी हो, इसलिए मामूली आदमी हो। मामूली आदमियों के नुमाइन्दे हो, इसमें तुम्हें एतराज नहीं होना चाहिए। लेकिन बात ऐसी है कि ये राजनीतिज्ञ

मामूली आदमी नहीं होते, गो कि उनकी लियाकतें मामूली से अलहदा नहीं होतीं, वे मामूली आदमियों से अलग अपनी लियाकतों के सबब से नहीं दिखाई देते, वरन् अपने रहन-सहन के ढंग से। वे राजनीति में भाग लेने गये हैं, आप समझे ? और वहाँ कामयाब हुए, इसलिए मामूली जिन्दगी से गायब हो गये हैं। उनमें खुद में तो कोई ऐसी खुसूसियत नहीं है, जिसका दूसरों पर असर हो। लेकिन रहन-सहन, उनका अनुगमन, उनका छिपाव-दुराव, इन चीजों का असर गजब का होता है।

हमारे राजनीतिज्ञों में जो बुराई है, वह यह है कि राजनैतिक जीवन एक पेशा, एक व्यवसाय माना जाता है। उसे व्यवसाय या पेशा हरगिज नहीं समझना चाहिए। उन बिरले व्यक्तियों को, जिनमें राजतन्त्र के विषय में विशेष प्रतिभा होती है, अपवाद मान सकते हैं। उनके लिए वह एक विशेष व्यवसाय माना जा सकता है। परन्तु और सब लोगों के लिए राजनीति एक साधारण नागरिक-कर्तव्य ही होना चाहिए। हम चाहें या न चाहें, हमारे जीवन में राजनीति होती ही है। हर घड़ी हम राजनैतिक वक्तव्य देते हैं, चाहे जानबूझकर देते हों या अनजान में। हमें पता हो या न हो, हम राजनीति के बारे में कोई-न-कोई रुख अखत्यार करते रहते हैं। वास्तविक लोकतांत्रिक समाज में कुछ यथार्थ राज्यनेता और राजनीति समझने वाले करोड़ों नागरिक होने चाहिए, न कि कुछ हजार राजनीतिज्ञ और करोड़ों भेड़ें। राजनीति एक ऐसी चीज समझी जाती है, जो साधारण नागरिक से अलग है और इसलिए "उसमें हिस्सा लेने" की जरूरत होती है। यह बात इसका सबूत है कि हम लोकशाही की कल्पना से कितनी दूर पड़ गये हैं।

—जे. बी. प्रीस्टले

युद्ध की धमकी समाप्त की जाय

ऐटम बम तैयार करने में मेरा केवल इतना ही कार्य है कि मैंने राष्ट्रपति रूजवेल्ट के नाम लिखे गये एक पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि ऐटम बम तैयार करने की सम्भावनाओं का आविष्कार करने के लिए बड़े पैमाने पर उसके प्रयोग की आवश्यकता है। यह प्रयोग यदि सफल होता है, तो मानवता पर कितना बड़ा खतरा आ जाता है, इस बात की मुझे पूरी जानकारी थी, परन्तु मैंने ऐसा कदम इस आशंका से उठाया कि जर्मनी वाले शायद इस समस्या को हल करने के प्रयत्न में लगे हैं और उनके सफल होने की सम्भावना है। निश्चित रूप से शान्तिवादी होते हुए भी मैं ऐसी स्थिति में और कुछ नहीं कर सकता था। मैं मानता हूँ कि युद्ध में लोगों की हत्या करने में और साधारण रूप से किसी मनुष्य की हत्या करने में कोई अन्तर नहीं है।

जब तक विभिन्न राष्ट्र मिल-जुलकर आपसी झगड़ों का निपटारा और अपने हितों की रक्षा शान्तिपूर्ण ढंग से समझौते द्वारा करने और युद्ध को समाप्त करने का निर्णय नहीं कर लेते, तब तक वे ऐसा महसूस करते हैं कि युद्ध के लिए तैयारी करने को वे विवश हैं। वे ऐसा मानते हैं कि इस शस्त्रीकरण की दौड़ में वे कहीं पीछे न रह जायँ, इसके लिए वे प्रत्येक सम्भव उपाय का, भले ही वह घृणित से घृणित हो, सहारा लेने के लिए तैयार हैं। यह मार्ग निश्चित रूप से युद्ध की ओर ले जाता है और आज की स्थिति में युद्ध का अर्थ होता है—सार्वजनिक रूप से विनाश।

ऐसी स्थिति में साधनों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का कुछ अर्थ ही नहीं होता। उसकी सफलता की कोई आशा नहीं है। इस दिशा में

युद्ध की समाप्ति और युद्ध की धमकी की समाप्ति से ही काम बन सकता है। यही वह चीज़ है, जिसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह किसी भी दिशा में इस लक्ष्य के विरोधी कार्यों में अपने को शामिल नहीं होने देगा। समाज पर अपनी निर्भरता के प्रति जो भी मनुष्य जागरूक है, उससे यह सीधी माँग है; और यह कोई असम्भव माँग नहीं है।

हमारे युग के सबसे महान् राजनीतिज्ञ गाँधीजी ने हमें यह मार्ग दिखाया है। उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी है कि जनता यदि एक बार सही रास्ता पा लेती हैं, तो वह कितना अधिक त्याग करने के लिए तैयार हो जाती है। उन्होंने भारतवर्ष की स्वन्तत्रता के लिए जो महान कार्य किया, वह इस बात का स्पष्ट उदाहरण कि चाहे जितनी बड़ी अजेय भौतिक शक्ति हो, उस पर दृढ़ निश्चय-सम्पन्न इच्छाशक्ति अधिक शक्तिशाली सिद्ध होती है।

('आइडियाज़ एन्ड ओपिनियन्स' से) —अलबर्ट आइन्सटीन

शान्ति की खोज

....दूसरों का भरोसा करना बिलकुल फिजूल है। दूसरे हमारे लिए शान्ति नहीं ला सकते। कोई नेता हमको शान्ति नहीं लाकर देगा, कोई सरकार नहीं, कोई सेना नहीं और कोई देश नहीं। शान्ति उस भीतरी परिवर्तन से आयेगी, जो बाहरी आचरण में प्रकट होगा। भीतरी परिवर्तन एकान्तवास नहीं है, वह बाह्य कर्म से निवृत्ति नहीं है।

किन्तु सम्यक् आचरण तभी हो सकता है, जबकि विचार सम्यक् हो। आत्म-ज्ञान के बिना सम्यक् विचार असम्भव है। जब तक आप अपने को नहीं जानते, तक तक शान्ति नहीं।

("फ्रीडम फर्स्ट ऐण्ड लास्ट" से) जे० कृष्णमूर्ति

आशा का शुभ संकेत

इन कुछ हफ्तों में जो कुछ हुआ है, उससे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि लड़ाई की कल्पना भी नहीं हो सकती, इतना निश्चय कर लेना काफी नहीं। हमको हथियारों का भरोसा ही छोड़ देना होगा और एक ऐसे विश्वव्यापी सहयोग का संयोजन करना होगा, जिसमें उन्नतिशील और सम्पत्तिमान राष्ट्र दरिद्र और वंचित राष्ट्रों की सहायता करेंगे।

पिछले दिनों जो भयंकर घटनाएं घटीं, उनमें भविष्य के आश्वासन का एक शुभ-संकेत है। पोलैंड और हंगरी में स्वतन्त्रता के इस नये आन्दोलन में विद्यार्थियों का भाग प्रमुख रहा। उसी तरह ब्रिटेन में फ्रान्स और ब्रिटिश तथा सोवियत आक्रमण के बिरुद्ध जो प्रदर्शन हुए, उनमें भी प्रमुख भाग विद्यार्थियों का रहा।

आशा यह की जाती है कि इसमें एक शुभ संकेत है। इधर कुछ वर्षों से बुजुर्गों को दैववाद और पुरुषार्थहीन अनास्था के वात-रोग ने ग्रस लिया था, उसमें से तरुण पीढ़ी बाहर निकलती मालूम होती है।

आज की राजनीति की उलझनें, बढ़ता हुआ विकेन्द्रीकरण, शासन-सत्ता की प्रचण्डता और सत्ताधारियों के अलगपन का प्रतिकार "क्या फायदा ?" की वृत्ति की अपेक्षा, अधिक शाश्वत और अधिक वीरतापूर्ण किसी उपाय से किये जाने की सम्भावना हो, तो, यह आशा हो सकती है कि लोकसत्ता दुनिया में फिर एक बार वास्तविक बन जायेगी।

('राष्ट्रसंघ के छात्र-विभाग से')

लोकसत्ता का सार क्या है ?

राज्य और लोक-समाज, दोनों को एक समझना गलत है। लोक-समाज जीवित व्यक्तियों का बना होता है। उसके बिना तो हम सब कोई रौबिन्सन क्रूसो बन जायेंगे। व्यक्तियों के जोड़ से वह कुछ अधिक है। उसके एक तरह का अपना मानस या आत्मा भी हो सकती है।

लोक-समाज में घनिष्ठता से और उसके साथ समरस होकर व्यक्ति की विशेषता की हानि नहीं होती, बल्कि व्यक्ति और भी व्यक्तित्वपूर्ण हो जाता है। इसलिए लोकशाही जहाँ व्यक्तियों के व्यक्तिगत महत्त्व का आग्रह रखती है, वहाँ लोक-समाज के मूल का भी प्रतिपादन करती रही है।

राज्य तो एक अजस्र, रहस्यमय, अतिरूप सत्य है, जिसके द्वारा सभी नागरिक जीते हैं। वह फासिज्म का इन्द्रजाल है। असल में समाज की दूसरी संस्थाओं की तरह राज्य-संस्था भी एक संस्था हैं, इससे अधिक वह कदापि कुछ नहीं हो सकती। लोक-समाज अद्वितीय होता है। वह सजीव होता है। राज्य को लोक-समाज समझना, यन्त्र को मनुष्य समझने के बराबर है। कुछ राज्य-सुधारवादी इस तरह से लिखते और बोलते हैं, मानो रास्ते के पहले मोड़ पर ही हमारे लिए ऐसी चमत्कारपूर्ण राज्य-संस्था इन्तजार कर रही है, जैसी दुनिया में आज तक कभी नहीं देखी गयी। वे कुछ ऐसा मानते हैं कि पुलिस का औसत सिपाही एकाएक किसी तिलिस्म से एक उत्कृष्ट, बुद्धिमान, कृपाशील, अतिथि-परायण गृहिणी में बदला जा सकता है !

राज्य एक संस्था है, एक औजार है, एक यन्त्र है और इनकी जो मर्यादाएँ होती हैं, वे राज्य-संस्था की भी रहेंगी। उसमें चाहे जितने सुधार क्यों न हों, फिर भी वह भारी-भरकम मन्द और

सुस्त ही रहेगी। अगर उसमें सबसे अधिक प्रतिभाशाली और शीघ्र रचनापटु व्यक्ति भी शामिल हो जायँ, तो भी वह किसी-न-किसी तरह उनकी धार भोथरी कर देगी। परियों की कहानी की तरह किसी आदर्श राज्य-संस्था के आने की बड़ी-बड़ी बातें करना फिजूल वक्त जाया करना है। राज्य-संस्था लोकसमाज के राजनैतिक और आर्थिक कर्तव्य को पूरी तरह व्यक्त कभी कर ही नहीं सकती। उसका रूप हमेशा काम-चलाऊ रहेगा और उसकी चाल धीमी रहेगी। वह एक भारी-भरकम यन्त्र है और उसी तरह का उसका रवैया होगा। आज वह दूसरी सारी संस्थाओं का हाकिम है।

लोकसत्ता का सार यह है कि किसी भी एक व्यक्ति के हाथ में प्रभुसत्ता न होनी चाहिए। आर्थिक सत्ता के लिए यह बात जितनी लागू है, उतनी ही राजनीतिक सत्ता के लिए भी लागू है। एक को नियंत्रित करना और दूसरी को अनियंत्रित छोड़ देना, लोकसत्ता का उपहास है। किसी एक व्यक्ति या गिरोह का यह हक नहीं हो सकता कि वह दो हजार व्यक्तियों के आर्थिक, सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को अपनी मौज या लोभ के लिए खलिहान बनाये। अपने पड़ोसियों की मरम्मत करने के लिए कुछ पेशेवर मुठमर्दों को भरती कर लेने का जिस तरह कोई हक़ नहीं है, उसी तरह यह हक़ भी नहीं है। आज भी व्यक्ति अपने हाथ में इतनी आर्थिक सत्ता इकट्ठी कर लेते हैं कि गैरसरकारी सेनाओं के सेनापति बन जाते हैं। दरअसल यह लुटेरापन और सरजारी है।

—जे॰ बी॰ प्रीस्टले

संघर्ष का वास्तविक कार्य

कार्ल मार्क्स मानते थे कि राज्य के पारस्परिक विरोध, आदर्श और व्यावहारिक कल्पनाओं के संघर्ष द्वारा सब कहीं सामाजिक सत्य को खोज निकाला जा सकता है। इसलिए हमें राजनीति की

आलोचना, राजनीति के वास्तविक संघर्ष में भाग लेने से अपने को रोकना नहीं चाहिए। इस तरीके से हम दुनिया के सामने सिद्धान्त-शास्त्री के रूप में पेश होने से अपने को बचा सकेंगे। यह सत्य है, सिर नवाओ और इसकी पूजा करो—यह कहते हुए एक नये सिद्धान्त को दुनिया के सामने उपस्थित करने से हम अपने को बचा सकेंगे। हमें दुनिया के लिए नये सिद्धान्त, नये नियम उसके पुराने सिद्धान्तों से निकाल कर विकसित करने होंगे। हमें दुनिया को यह नहीं कहना है कि "अपने झगड़ों को छोड़ो, वह मूर्खतापूर्ण हैं। हमारी बात सुनो, क्योंकि हमारे पास वास्तविक सत्य है।" इसकी जगह हमें दुनिया को यह दिखलाना है, कि क्यों उसे संघर्ष करना पड़ता है। इस तरह की चेतना को चाहे दुनिया पसन्द करे या न करे, उसे प्राप्त करना होगा।

मानवता तभी पूर्णतया मुक्त हो सकेगी, जबकि वास्तविक मानव के रूप में राज्य का निराकार नागरिक बदल जायेगा और अपने प्रायोगिक जीवन में वैयक्तिक मानव, अपने वैयक्तिक काम, अपनी वैयक्तिक स्थितियों में एक सामाजिक प्राणी बन जायेगा, जबकि मनुष्य सामाजिक शक्ति के तौर पर अपनी निजी शक्तियों को स्वीकार और संगठित करेगा, जिसके कारण सामाजिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति के रूप में अपने से अलग नहीं रखेगा।

वैयक्तिक सम्पत्ति के शासन से मानवता की मुक्ति आदि के साधन होने की जगह वह मानवता की कड़ियों को मजबूत करने का साधन बन गया है।

हमें यह मालूम ही है कि पुराने समाजवादियों और साम्य-वादियों की यही निर्बलता थी कि वह साम्यवाद की स्थापना दिमागी संघर्ष और हृदय-परिवर्तन द्वारा करना चाहते थे। मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद ने उस निर्बल नींव को छोड़ आर्थिक

शोषण के आधार पर प्रहार करके संघर्ष करने का रास्ता निकाला। आर्थिक शोषण के कारण जब कुछ मुट्ठी भर शोषकों को छोड़ जनता का सबसे अधिक भाग अपनी रोटी, जीविका और भविष्य की चिन्ता में चौबीसों घंटे परेशान रहता हो, तो वह संघर्ष भावुकतापूर्ण सोडे की बोतल के उफान की तरह क्षणिक नहीं हो सकता, उस संघर्ष की प्रत्येक असफलता उसके भावी वेग और शक्ति को बढ़ाने वाली तथा उससे शिक्षा लेने का अवसर देने वाली होती है।

('कार्ल मार्क्स' से) —राहुल सांकृत्यायन

मनुष्य जब तक अपने को अपने ही घर में कैद करेगा, तब तक उसका संदेश परमेश्वर से नहीं आयेगा। हम सब परमेश्वर के स्वरूप हैं। सन्तों ने कहा है : "परमेश्वर परने" याने फैला हुआ परमेश्वर। जो लोग अपने को परिवार में कैद कर लेते हैं उनके साथ ईश्वर का सम्बन्ध नहीं आता। इसलिए जहाँ हम प्रेम फैलाना चाहते हैं, वहाँ ईश्वर का सम्बन्ध आता ही है। भूदान-ग्रामदान तो प्रेम फैलाने के ही कार्य हैं! —विनोबा

स्त्री-जाति के प्रति धर्म

भगवान् महावीर को वैराग्य हुआ। उन्होंने गृहस्थाश्रम छोड़-कर विरक्त जीवन व्यतीत करने का विचार किया। माँ-बाप को यह पसन्द नहीं आया, अतः पुत्र-धर्म को याद करके उन्होंने माँ-बाप के संतोष के लिए गृहस्थाश्रम छोड़ने का विचार स्थगित किया। माँ-बाप के स्वर्गवास के बाद घर छोड़ने को वे तैयार हुए; लेकिन

बड़े भाई ने मना किया। बड़े भाई तो पिता-तुल्य होते हैं। उनको नाराज कैसे करें? उन्होंने और भी दो वर्ष गृहस्थाश्रम चलाया। बाद में घर छोड़ा।

भारतीय परम्परा की दृष्टि से यह ठीक ही हुआ। लेकिन आज का मानव पूछता है कि जिस व्यक्ति से आजीवन के लिए वचनबद्ध होकर उन्होंने गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ किया, उस व्यक्ति का क्या? माता-पिता के और भाई के भी संतोष का अगर महत्त्व है, तो पत्नी का संतोष, उसकी संमति का क्या कोई सवाल ही नहीं? क्या जीवदया और अहिंसा का कोई इस दिशा में तकाजा था ही नहीं?

× × ×

बुद्ध भगवान् राजपुत्र थे। उन्होंने अपने लिए पत्नी भी स्वेच्छा से पसन्द की थी। उनमें वैराग्य का उदय हुआ। इतने में उन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उन्होंने उसका नाम रखा राहुल। राहुल के मानी होते हैं—झंझट या विघ्न। लेकिन क्या पिता के लिए यह योग्य था कि पुत्र का स्वागत वह 'राहुल' नाम से करे?

सिद्धार्थ ने गृह-त्याग किया। काव्य कहता है कि पत्नी और बालक को सोते हुए छोड़ कर वे चोरी से भाग गये और दूर नदी के किनारे जाकर अपने सुन्दर बाल उन्होंने काट डाले।

इतिहास कहता है कि अपने पिता के और अन्य रिश्तेदारों के रोते हुए उन्होंने घर छोड़ा। महावीर ने अपने माँ-बाप के प्रति ऐसी कठोरता नहीं की। लेकिन बुद्ध ने अपनी पत्नी गोपा या यशोधरा की संमति नहीं ली। क्या उनका पत्नी के प्रति कोई धर्म था ही नहीं?

हमारा धर्मशास्त्र कहता है कि जीवन के पुरुषार्थ चार हैं:

एक ओर धर्म, अर्थ और काम तथा दूसरी ओर मोक्ष। विवाह का बंधन धर्म, अर्थ और काम, तीनों तक सीमित है। जब मोक्ष पाने की इच्छा प्रबल होती है, तब सब बन्धन आप ही आप टूट जाते हैं। उसे कोई भी सामाजिक बन्धन बाँध नहीं सकता। जब पत्नी शादी करती है अथवा जब विवाह में कन्या का दान हो जाता है, तब वह अथवा उसके माता-पिता उसके साथ शादी करने वाले को धर्म-अर्थ-काम तक ही बाँध ले सकते हैं। मुमुक्षा पैदा होने पर पति उसे छोड़ जायगा। यह खतरा वह जाने या न जाने, उसने मोल लिया ही है।

तब पत्नी को भी यही अधिकार होना चाहिए। जहाँ तक मैं जानता हूँ जैन सम्प्रदाय में पत्नी को ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर पति को छोड़ देने का अधिकार है। सनातनियों में ऐसी न्यायोचित व्यवस्था कहीं दीख नहीं पड़ती।

जो हो, जहाँ तक माता-पिता और बड़े भाई की भावना या 'लागणी' का विचार है, वहाँ पत्नी की इच्छा-अनिच्छा का तनिक भी विचार न हो, यह समझ में नहीं आता।

× × ×

विजय सेठ और विजया सेठानी के जीवन-प्रसंग में बात अलग थी। लड़का और लड़की, दोनों स्वभाव से विरक्त थे। दोनों शादी नहीं करना चाहते थे। दोनों तरफ से माता-पिता ने जबरदस्ती उन्हें विवाह-बद्ध किया। विवाह के बाद जब दोनों ने एक-दूसरे का विचार समझ लिया, तब उनको हुआ होगा कि अच्छा ही हुआ कि हम लोगों की इस तरह शादी हुई। दोनों ने तपस्या का मार्ग लिया और अपना उद्धार किया। यह सुन्दर हुआ। ऐसी आदर्श परिस्थिति हो, तब तो पूछना ही क्या!

× × ×

श्री शङ्कराचार्य के सामने शादी का सवाल था नहीं, लेकिन विधवा माता को छोड़ कर संन्यास लेने का सवाल था। माता की संमति के बिना संन्यास कैसे ले सकते थे ? (पत्नी होती, तो उसकी संमति के बिना संन्यास लेना, इतना कठिन नहीं था।)

कैसी परिस्थिति में श्री शंकराचार्य ने संन्यास लेने के लिए माता की संमति प्राप्त की, सो हम जानते हैं। उन्होंने संन्यास तो लिया, पर माता के दुःख का कुछ इलाज उनको करना ही पड़ा। उन्होंने माता को वचन दिया कि संन्यास-धर्म के नियम का उल्लंघन करके भी वे माता की अन्तिम सेवा के लिए उपस्थित होंगे। इस वचन का उन्होंने पालन करके संनातनी समाज की नाराज़गी मोल ली। वह सारा रोमहर्षण किस्सा कौन नहीं जानता ?

महाराष्ट्र के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ सन्त ज्ञानेश्वर के पिता का दृष्टान्त भी यहाँ सोचने लायक है। विद्याध्ययन और तीर्थयात्रा पूरी करके उनके पिता ने श्वशुर की इच्छा के अनुसार कन्या का स्वीकार किया। कुछ दिन तक गृहस्थाश्रम चलाया। लेकिन बार-बार स्त्री को कहने लगे कि, "मुझे इस आश्रम में नहीं रहना है।" दुखिनी पत्नी ने जब देखा कि ये संन्यास लेने पर तुले ही हुए हैं, तब उसने उन्हें रोकना नामुनासिब समझा और जाने दिया। पति नें बनारस जाकर यह कह कर कि मैं अविवाहित हूँ, गुरु से संन्यास लें लिया। जब गुरु को पता चला कि इसने धोखे से संन्यास की दीक्षा ली है, उसे आज्ञा की कि संन्यास-आश्रम छोड़ कर फिर गृहस्थी करे। वैसा करने के बाद उन्हें चार अपत्य हुए। तीन लड़के और एक लड़की। आगे जाकर इन चार बालकों को और उनके माता-पिता को सनातन धर्म और सनातन समाज के हाथों क्या-क्या भुगतना पड़ा, सो सब जानते ही हैं!

आज की धर्मबुद्धि और न्यायबुद्धि पूछती है कि क्या धर्म की यह व्यवस्था ठीक है ? सम्पूर्ण है ? स्त्री के प्रति पति का शुद्ध धर्म क्या है ?

× × ×

गांधीजी ने एक रास्ता निकाला है। पति और पत्नी गृहस्थ-धर्म के पवित्र बंधन से बँध जाने के बाद अगर दो में से एक को भी ब्रह्मचर्य का आदर्श जँच जाय, तो दूसरा व्यक्ति अपने साथी पर बलात्कार नहीं कर सकता। इसलिए दोनों संभोग की बात छोड़ कर गृहस्थाश्रम चलावें। एक-दूसरे को छोड़ जाने की आवश्यकता नहीं है। संयम के साथ, पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ एकत्र रह कर एक-दूसरे की मदद करते हुए समाज की सेवा सम्मिलित रूप से कर सकते हैं।

इसमें एक बात अवश्य है ही कि पति या पत्नी को ब्रह्मचर्य की बात मान्य न हो और पूर्ण गृहस्थाश्रम चलाने की इच्छा अनिवार्य हो, तो पुर्नविवाह करने की इजाजत होनी ही चाहिए और उसमें प्रसन्नता से दोनों को एक-दूसरे की मदद करनी चाहिए।

× × ×

राम और लक्ष्मण जब १४ बरस के लिए वनवास गये, तब सीता ने राम के साथ रहने का अपना अधिकार आग्रहपूर्वक चलाया। लक्ष्मण की पत्नी 'उर्मिला' होते हुए भी उसकी कुछ न चली। कविवर रवीन्द्र ने अपने ढंग से इस अन्याय के बारे में शिकायत की है कि कवि ने उर्मिला के प्रति सहानुभूति तक नहीं बतायी। यह उपेक्षा अक्षम्य है।

व्यक्तिधर्म, पति-पत्नीधर्म और समाजधर्म को समझने वाले लोगों को चाहिए कि वे ऐसा कुछ रास्ता बतायें कि जिससे आज की धर्मबुद्धि को संतोष हो सके।

('मंगल प्रभात' से) —काका कालेलकर

भगवान् सूरज अगर छुट्टी लें !

हजारों साल तक अखण्ड काम करते रहने से भगवान् सूरज थक गये। कहने लगे कि कम-से-कम एक साल की छुट्टी लेकर विश्राम करने की आवश्यकता है ! सबको बुलाकर उन्होंने बतलाया कि "मैं एक साल की छुट्टी लेना चाहता हूँ। यह छुट्टी लेने का मुझे पूरा-पूरा हक है, क्योंकि मैंने आज तक एक बार भी छुट्टी नहीं ली। तो अब मेरा काम आप लोगों में से कौन उठा लेगा !"

भगवान् सूरज की बात सुनकर उल्लू को बड़ी खुशी हुई। उसने कहा—"यदि भगवान् सूरज छुट्टी लेते हैं, तो उस अवधि में मैं उनके काम का जिम्मा ले लूँगा ! कोई चिन्ता की बात नहीं। मुझसे बनेगी उतनी सेवा मैं अवश्य करूँगा।"

उल्लू का यह आश्वासन सुनकर सब जानवर कहने लगे—"क्या तुम संसार को प्रकाश दोगे ? सब वृक्षों में फूल तथा फल पैदा करोगे ? क्या तुम दुनिया को उष्णता दे सकोगे ? सागर के पानी से भाप बनाकर वर्षा पैदा करोगे ? तुम कर भी क्या सकोगे ?"

यह सुनते ही शरन्मिदा होकर उल्लू ने मुँह छिपा लिया। वह भाग कर अँधेरे में छिप गया !

भगवान् सूरज का काम करने की जिम्मेदारी सम्हालने को कोई भी तैयार नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि महापुरुष अपने जीवन-कार्य से पल भर के लिए भी अलग नहीं हो सकते। उनका कार्य दूसरा कोई नहीं सम्हाल सकेगा।

"उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥"

—शिवाजी भावे

कल्याण-राज्य कहाँ जाकर पहुंचेगा ?

सरकार से हमें सहकार पर आना है। राज्य अच्छा वह, जो राज कम-से-कम करे। लोककल्याण-राज्य का एक कल्पना थी, वह बीत गयी। वह हमारी नहीं है। उसमें सब कुछ राज्य के करने के लिए हो जाता था। हम राज्य के पास करने के लिए कम-से-कम छोड़ना चाहते हैं। आखिर करने वाले कौन हैं। लोग ही तो हैं। राज्य करता है, यानी लोग करते हैं। सहकार के साथ एक उद्देश्य में जो मिल आये, वे लोग और उनका समाज। तो इस तरह समाज सब करता है। राज्य समाज के हाथों का यन्त्र है। यन्त्र ही है, मालिक नहीं है। लोककल्याण-राज्य, यानी लोगों का कल्याण राज्य के लिए हो। तो यह उल्टी बात हो जाती है कि जैसे लोग न जानते हों, कल्याण को जानने का भी काम राज्य का हो और वह करे तभी हो ! इस रास्ते से राज्य चाकर बनते-बनते मालिक बन जाता है। अधिनायक राज्य और लोक-राज्य में इस रास्ते बहुत अन्तर नहीं रह जाता। हम एक ध्रुव को भूलना नहीं चाहते हैं। वह यह कि जिसे शासन न करना पड़े, वह शासन अच्छा है। यानी राज्य का काम कार्मिक नहीं, नैतिक रह जाय। राज्य अन्तःकरण के मानिन्द हो। लोग सभी तो अवयव हैं। राज्य अपने अलग हाथ-पैर बनाता है और फैलाता है, तो लोग अपनी सूझ-बूझ से हाथ-पाँव चलाने में असमर्थ होते और परमुखापेक्षी बनते हैं। इतिहास में यह बड़ी भूल होती रही है। राज्य ने कर्म को पकड़ा है, अकर्म को छोड़ा है। अकर्म की महिमा गीता ने बतायी है। उस मूल्य की पहचान से भारत का राज्य जब डिगा, तब कठिनाई ही हुई। करोड़ों-अरबों रुपया जुटा कर बड़ी योजनाएँ चलायी जा सकती हैं और लग सकता है कि बड़ा काम हुआ है। पर असल काम तो मानव-सम्बंन्धों में विश्वास और मिठास बढ़ाना है। उनमें खटास

पड़ती जाय और जहर खुलता जाय, तो समाज का कल्याण नहीं होता है। सुख महल में रहता है, यह किसी का अनुभव नहीं है। निर्माण सुख का करना है, महल खड़े करने से वह होता, तो बात क्या थी ! इससे राज्य पर जो आयें, उनकी निगाह सीधे उद्योग और उत्पादन पर कम भी रहे, मानव सम्बन्धों के सामञ्जस्य पर कम नहीं रहनी चाहिए। कर्तव्य मुख्य यहाँ है। उद्यम और उत्पादन की प्रवृत्ति तो हर मनुष्य में है। काम किये बिना कौन रह सकता है ? हाथ कुछ-न-कुछ करेंगे ही। उनके पीछे लगा हुआ दिमाग रहे और मुहब्बत से भरा दिल रहे, यह असल बात है। इससे सरकार को हाथों का योगफल होना नहीं है, सिर्फ बहुमत का संगठन होना नहीं है; विवेक का प्रतिनिधि होना है।''''विवेक खुद नहीं करता, करते हुए हाथों को सिर्फ सही रखता है। और मुहब्बत भी कुछ नहीं करती, उन करते हुए हाथों को थकने से बचाती है। तो सरकार के पास इससे दूसरी तरह का और अलग, अधिक काम नहीं रहना चाहिए।

('जयवर्धन' से')

—जैनेन्द्र कुमार

लाखों-करोड़ों के हित के लिए—

१९५५ में हमने यह अनुभव किया कि भूदान-आन्दोलन से भारत के नैतिक पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति हो रही है। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ अनेक प्रकार की विषमताएँ भरी हुई हैं, शीघ्रता के साथ किसी प्रकार के सामान्य निर्णयात्मक पहलू पर पहुँचने की बात करना ठीक नहीं है, चाहे उसका आधार देखने में स्पष्ट ही लगे। इतना कहने के बाद मैं अब भी यह बात कह रहा हूँ कि भारतीयों के जीवन के सम्बन्ध में हमारा जो कुछ ज्ञान है,

उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हमें बहुत ज्यादा प्रेरणा मिली। गहराई तक प्रविष्ट सम्पन्न आध्यात्मिक जीवन की आशा, जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ वर्षों बाद तक प्रकाशहीन-सी दिखायी पड़ रही थी, पुनः प्रकाशवान प्रतीत होने लगी और भारत के लोग अधिक-से-अधिक नैतिक मूल्यों पर विचार करने लगे।

प्रतिदिन दस से पन्द्रह मील तक की ग्रामीण क्षेत्रों की यात्रा के पश्चात् विनोबा भावे खेती करने वालों में उत्साह और निष्ठा की सृष्टि करते थे और श्रम के महत्व की बराबर चर्चा करते थे। जैसे गांधीजी ने अंग्रेजों से कहा था, वैसे ही विनोबा ने जमींदारों से कहा कि उनके अन्यायों और अत्याचारों से वस्तुतः उन्हीं की हानि होती है, न कि उनकी जिन पर ये अत्याचार और अन्याय होते हैं।

विनोबाजी के नैतिक प्रभाव का अनुमान इससे ही किया जा सकता है कि उन्होंने कैसे-कैसे लोगों को अपनी ओर मोड़ लिया। जयप्रकाश जैसे समाजवादो नेता ने अपना ज़ीवन भूदान और लोकतान्त्रिक आधार पर अहिंसात्मक समाज के विकास के लिए अर्पित कर दिया है। विनोबा के सहायक के रूप में उन्होंने अनेकानेक युवकों को इस कार्य की ओर प्रवृत्त किया है और भूदान में प्राप्त भूमि के पुनर्वितरण तथा ग्रामदान में प्राप्त सैकड़ों गाँवों के पुनःसंगठन में अपने को लगा दिया।

न तो विनोबा, न जयप्रकाश ही यह मानते हैं कि कानूनी दृष्टि से भूमि-सुधार के रूप में भूदान का प्रयोग किया जा रहा है। इसके विपरीत उनकी यह मान्यता है कि ग्राम-समाज में प्रारम्भ किया हुआ यह आन्दोलन ऐसे वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ होगा, जिसके फलस्वरूप उस विचारधारा का प्रसार होगा, जिसे गांधी-विचारधारा कहते हैं और जिसका उद्देश्य लोगों का हृदय-परिवर्तन है।

जो लोग यह मानते हैं कि कम्यूनिज्म का पराभव उससे भी प्रबल किसी विचारधारा से सम्भव है, उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस कृषकाय व्यक्ति के द्वारा सम्पूर्ण एशिया में ऐसी लोकतन्त्रात्मक शक्ति का विकास होगा, जो कम्यूनिज्म को पछाड़ सकती है। विनोबाजी साफ कहते हैं कि हम कम्युनिस्टों को यह बात स्वीकार नहीं करते कि हिंसा के बिना कोई क्रान्ति हो ही नहीं सकती। वे कहते हैं कि हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारत जैसे देश में, जिसकी सरकार का ढाँचा लोकतन्त्र पर आधारित है, यह सर्वथा सम्भव है कि हिंसा का आश्रय लिए बिना मतदान की विधि से ही क्रान्ति की जा सकती है।

विनोबाजी कहते हैं कि जिस गांधीवाद ने हमें स्वराज दिलाया, उसे काल्पनिक और अव्यावहारिक कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। किन्तु इस समय तो उस पुराने देश, चीन को नवशक्ति-सम्पन्न करने में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् कम्यूनिज्म ने भी अपना सामर्थ्य प्रदर्शित किया है। यही कारण है कि बहुत से सेवक ऐसा कहने लगे कि दोनों पद्धतियों के समन्वय की आवश्यकता है। वस्तुस्थिति यह है कि ये दोनों सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं और इनमे समन्वय हो ही नहीं सकता। दोनों के मतभेद मौलिक हैं। दोनों परस्पर एक-दूसरे के कितने विरोधी हैं, यह स्वतः स्पष्ट है।

भारत से प्रस्थान करने (१९५५) के पूर्ववाली रात्रि में हमें राष्ट्रपति भवन में गांधीजी के जीवन पर एक फिल्म दिखायी गयी, जो उनके १९२९-३० के कार्य से सम्बद्ध थी। इस फिल्म में यह दिखाया गया था कि पुलिस की निरन्तर लाठी-वर्षा के बावजूद भारत की महान् जनशक्ति किस प्रकार अनुशासित और अहिंसक बनी रही तथा ब्रिटिश वस्त्र के बहिष्कार की गांधीजी की योजना

के कारण लंकाशायर के मिल कर्मचारियों के बेकार हो जाने के बावजूद जब गांधीजी इंग्लैण्ड गये, तो उन्हीं कर्मचारियों द्वारा गांधीजी का किस प्रकार उल्लासयुक्त हार्दिक अभिनन्दन किया गया।

दर्शकों में हमारे अतिरिक्त ४०-५० आदमी रहे, जिनमें उस भारतीय कांग्रेस की कार्यसमिति के भी सदस्य थे, जिसके माध्यम से ही गांधीजी ने भारत को स्वतन्त्र किया। कार्यसमिति के इन सदस्यों में से बहुतेरे उस फिल्म में भी दिखायी पड़े, जो उन दिनों युवावस्था में थे और अत्यन्त निष्ठापूर्वक अपने महात्मा के नेतृत्व में और उनके निर्देश पर काम करते रहे। बाद में रात के भोजन के समय नेहरू ने गांधी के विरासत की चर्चा की और बताया कि किस प्रकार वह सारी जिम्मेदारी "हम पर और हमारे साथियों पर" आ गयी है।

मुझे याद है कि गांधीग्राम में और हैदराबाद की पाठशालाओं में काम करने वाले तथा ग्रामीणों के बीच काम करने वाले सेवक कितनी निष्ठा से सम्पन्न थे। मैं तो ऐसा समझता हुँ, उस समय जो निष्ठा और लगन वहाँ के सेवकों में देखी गयी, उसका विकास होता रहे, तो उससे भारतीय जनता की स्वतंत्रता और उसकी समवृद्धि ही सुनिश्चित नहीं होगी, वरन् संसार के अनेक देशों के लाखों-करोड़ों लोगों का हित होगा।

('न्यू डायमेन्शन ऑफ पीस' से) —चेस्टर बौल्स

तमाम सृष्टि के साथ मौत का खेल !

मैं इतना बूढ़ा हो गया कि अब चिड़चिड़ा भी हो गया हूँ। मैंने अपने जीवन में बहुत-सी वस्तुएँ देखी हैं। बहुत सारी भूलों और बहुतेरे अत्याचारों का भी मुझे सामना करना पड़ा। मैं नहीं चाहता

कि मरने के पहले मुझे किसी प्रकार के भय और त्रास का सामना करना पड़े। यह ठीक है कि और लोगों की तरह अकेले मेरा कोई महत्त्व नहीं। लेकिन हम सब मिलकर महत्त्वहीन भी नहीं हैं। हम इस नाटक के पात्र हैं और नाटक का कोई भी एकाकी पात्र दुःख में परिसमाप्त होने वाले नाटक के प्रभाव से जिस प्रकार अछूता नहीं रह सकता, उसी प्रकार इस नाटक का कोई भी पात्र इसके भयावह आशङ्कित दुखदायी अन्त के प्रभाव से बचने वाला नहीं है। मैं तो इस नाटक का सूत्रधार मात्र हूँ और आप लोग इसके पात्र हैं। आप पात्र भी हैं और दर्शक भी, क्योंकि जब किसी उद-जन बम का विस्फोट होता है, तो आप स्वतः दर्शक की स्थिति से मरण की स्थिति में पहुच जाते हैं। वह स्थिति सम्पूर्ण विनाश की है। यह ऐसी निश्चित है कि उसमें संशय का कोई स्थान नहीं। इसे मानव की मृत्यु नहीं, वरन् मानवता की मृत्यु कह सकते हैं।

अब आइये, मैं आपको (नाटक के) कार्य-व्यापार की उस भूमिका पर ले चलूँ, जहाँ जाकर हम यही देखेंगे कि यह हमारे विनाश का कारण बनता है।

यह वसंत ऋतु है। इस समय बरफ पिघलती है और सरिताओं में जीवनी शक्ति का संचार करती है। रूस और अमेरिका में आज ऐसा ही वसंत है। हम यह क्यों न कहें कि सम्पूर्ण संसार इस वसंत के आगमन से उल्लास का अनुभव कर रहा है। वसंत में ही फूल खिलते हैं, किन्तु उन्हें किसी शीतयुद्ध या अन्य युद्धों का क्या पता ? उन निरीह फूलों को आज के इस आणविक युद्ध का भी क्या पता, जो बच्चे-बच्चे की जबान पर है ?

लेकिन सोचिये तो सही, उल्लास और यौवन के इस बसंत में, जब कि लोगों में एक प्रकार की मस्ती और लापरवाही घर कर लेती है, एक मधुमक्खी उनके कानों के पास आकर भनभनाने लगती

है। वह भनभनाती ही रहती है। छत्ते की तमाम मधुमक्खियाँ उड़-उड़ कर फूलों का रस लेने आती है। किन्तु उनको ज्ञात होता है कि वे फूल विष भरे हैं, जिनका रसपान करने वाली मक्खियाँ इस लोक से कूच कर जाती हैं। हम यह भी देखते हैं कि हरी-हरी पत्तियाँ पेड़ से तोड़ कर खाने वाला हाथी पीड़ा से छटपटा रहा है और पास ही एक सुन्दर मृग मरा हुआ पड़ा है।

सागर में विष ही विष भर गया है और अपने को अत्यन्त सुरक्षित मानने वाला घोंघा भी भयाक्रांत हो गया है। मछलियों के झुंड के झुंड मृत पाये जाते हैं।

और सागर की सतह पर जल में उछलती-तैरती मछलियाँ आज दिखायी भी नहीं पड़तीं। इतना ही नहीं, नभ में सबसे ऊंचा उड़ने वाला गृद्ध विषाक्त वायुमडल के कारण रह-रह कर बेचेन हो जाता है। वह बड़ी लालसा भरी आँखों से देखता है कि उद्यान में लोग टहलते-फिरते हैं और माताएँ बड़े प्रेम से पढ़ कर आने वाले बच्चों के लिए भोजन बनाती हैं।

किन्तु इन स्नेहशील माताओं को क्या पता है कि इस संसार में कुछ ऐसे भी हठधर्मी मूर्ख हैं, जो विश्व के भाग्य के साथ खिल वाड़ कर रहे हैं।

(अंग्रेजी से अनूदित) —चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

मानव-मानव के बीच ही निपटना है !

सारे संसार में विनोबाजी की ख्याति पिछले पाँच वर्षों के भीतर ही हुई है। विनोबाजी के सम्बन्ध की जानकारी अब भी लोगों को बहुत कम है, जब कि गांधीजी के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं थी। अभी हाल में उनके सम्बन्ध में जानकारी कराने वाली एक पुस्तक

महाकवि टेनीसन के प्रपौत्र हैलम् टेनीसन ने लिखी है। टेनीसन ऐसा समझते हैं कि गांधीजी की अपेक्षा विनोबा कहीं अधिक कुशाग्र बुद्धि के व्यक्ति हैं। विनोबाजी के मन में किसी के प्रति आसक्ति की कोई भावना नहीं रह गयी। वे सब को समान दृष्टि से देखते हैं। इसके विपरीत गांधीजी में अन्त तक भावुकता थी और उस प्रेमभावना को उन्होंने सदा पल्लवित रखा और उससे लाभान्वित भी हुए। गांधीजी लोगों को चारित्रिक दोषों के निवारण के लिए बरावर उपदेश करते रहें। गांधीजी की ही भाँति विनोबा भी अपना आन्दोलन अत्यन्त नाटकीय कौशल से संचालित करते हैं—यद्यपि यह अवश्य है कि विनोबाजी की प्रवृत्ति ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त करने की दृष्टि से संचालित नहीं होती। गांधीजी की ही भांति वे मितव्ययी हैं। संपत्ति के रूप में उनके पास यदि को: वस्तु है, तो वह है उनकी घड़ी, फौन्टनपेन और उनका चश्मा! विनोबाजी तो रेल से भी कभी नहीं यात्रा करते। वे गाँव-गाँव पैदल घूम कर जमींदारों को यही शिक्षा देते हैं कि अपनी जमीन का छठा भाग भूमिहीनों के लिए दो। गांधीजी की भाँति विनोबाजी के पीछे भी लोगों की बड़ी भारी जमात लगी रहती है, जिनमें कुछ लोग आदर्शवादी होते हैं, कुछ राजनीतिज्ञ होते हैं, कुछ सेवक होते हैं और कुछ भक्त होते हैं। इस दल में कभी-कभी राजा-महाराजा भी मिलते हैं। जिन लोगों ने राजनीतिक मोह माया का परित्याग कर विनोबाजी के आन्दोलन में अपने को लगा दिया है, उनमें मुख्य हैं, भारतीय समाजवादी दल के भूतपूर्व नेता श्री जयप्रकाश नारायण।

विनोबाजी ने यह भी सुझाव दिया है कि वर्तमान भारतीय संसद (प्रणाली) भंग कर दी जाय, क्योंकि वह बहुत वाक्छल में भरमा देने वाली है। विनोबाजी का प्रभाव अत्यधिक है। हिन्दू

विचारधारा को वे प्रभावित करते हैं। आज सम्पूर्ण एशिया में गांधीजी की ही भाँति उनकी प्रतिष्ठा होती है और यदि वे कुछ दिन और रहें, तो नैतिक आदर्शों के, उच्च जीवन के, निर्धनों के परित्राता के रूप में, सरकारों की अहंमन्यता भरी असंस्कृत प्रतिष्ठा के प्रतिरोधी के प्रतीक के रूप में, उनको मान्यता प्राप्त होगी और कम्यूनिस्ट विचारधारा को उध्वस्त करने तथा जो लोग केवल ताकत के भरोसे कम्यूनिज्म को समाप्त करना चाहते हैं, उनके लिए नयी दिशा में विचारोत्तेजक के रूप में उनको मान्यता प्राप्त होगी। विनोबा ने एक बार कहा था कि पुलिस कोई सुधार का कार्य स्वयं सोचें और व्यवहार में लायें, ऐसा नहीं हो सकता। शेरों से भरे जंगल साफ करने के लिए भले ही उनका उपयोग हो, लेकिन यहाँ तो हमें मानव-समाज के साथ निबटना है।

जब किसी नयी विचारधारा का आविर्भाव होता है, तो उसका दमन नहीं किया जा सकता।

('स्पॉटलाइट ऑन एशिया' से) —गाय विंट

आदमी जगत् का केंद्र होगा!

अब सवाल यह है कि वह क्या रचना हो सकती है, जो इस आदमी को नीचे न रख कर केन्द्र में ले सके? क्या वही रचना, अर्थ-रचना और समाज-रचना सही और सार्थक न होगी? प्रश्न है कि वह क्या हो सकती है। राज्य का उसमें क्या होगा? होगा ही वह, तो उसका रूप क्या होगा? मुझे लगता है, क्रमशः राज्य यांत्रिक न रहेगा। वह कम स्थूल और भारी होता जायगा। आज की अमलदारी के रूप में नहीं, बल्कि अन्तःप्राप्त दायित्वभाव के रूप में वह व्याप्त होगा। ऐसा यदि नहीं है, राज्य है और वह

व्याप्त नहीं, केन्द्रित है, नैतिक नहीं, कार्मिक है, तो ऐसे राज्य के साथ अनिवार्य होकर युद्ध कैसे न लगा चलेगा, मैं नहीं समझ पाता। ऐसा राज्य, निहित स्वार्थ का दुर्ग हुए बिना रह नहीं सकता। उसे खर्च चाहिए और आय के साधन चाहिएँ। पूंजी चाहिए और मंडी चाहिए। महाजन उसे जरूरी होगा, उसी तरह गाहकजन जरूरी होंगे। राज्य क्या, वह एक लवाज़मा ही होगा। जरूरी होगा कि अमुक भूखण्ड के लोग उसके अपने हों और देशवासी कहलायें, उससे बाहर के लोग गैर हों और विदेशी समझे जायँ! ऐसे देश-विदेश का, अपने-पराये का भाव मजबूत किये बिना राज्य कमजोर रहेगा। बिलवर, यह सब मन में उठता रहता है और लगता है कि यह अर्थ-रचना, जो हर दो पड़ोसियों को एक हित में मिलाये, राज के लिए हो नहीं सकती। राज्य चाहे तो भी उसे सींच नहीं सकता। कारण, राज्य मशीन है और केन्द्र है, और यह रचना इतनी आत्मिक और विकेन्द्रित होगी कि केन्द्र स्वयं आदमी ही रहेगा। हर आदमी अपना केन्द्र और जग का केन्द्र! उधेड़बुन में मैं जिस नतीजे पर पहुँचा हूँ वह वही सनातन है कि यज्ञ ही नियम है। शब्द तुम्हें अटपटा लगा होगा। समझ न आता होगा। पर यज्ञ, यानी तुम्हारा क्रॉस। व्यक्ति में यज्ञ है, तो उससे समाज बनता है; नहीं है, तो शोषण होता है। सामाजिकता निरे गिरोह हो रहने में नहीं है। डाकूओं का गिरोह जैसा पक्का होता है, वैसा दूसरा न होता होगा। व्यसन में मिलाने की शक्ति है। गुट और समूह उस पर जल्दी जुटता है। पर समूह समाज नहीं है। यानी दलों पर चलने वाले लोकतन्त्र से बहुत आशा नहीं हो सकती, राजनीति से ही बहुत आशा नहीं हो सकती। कारण वह मजबूर है कि व्यक्ति को न गिने, गुट को गिने!

('जयवर्धन' से) —जैनेन्द्र कुमार

गांधी : पश्चिम का भी प्रकाश स्तम्भ !

गांधी पश्चिम को भारत की बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है। उनका जीवन-क्रम हमारे बहुत से दोषों के निवारण के लिए रामबाण औषध है। भविष्य-द्रष्टा की भाँति फैसिस्ट (अधिनायकवादी) तथा लोकतंत्रवादी, दोनों प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत रहने वाले देशों के निवासियों की वास्तविक स्थिति का परिज्ञान प्राप्त करने के बाद गांधी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव की मानवता का सर्वत्र एक रूप से ह्रास हो रहा है।

अधिनायकवाद-चाहे वह बोल्शेविक ढंग का हो या अन्य किसी प्रकार का, ऐसा तंत्र है, जिसमें देश तो प्रबल होता है, किंतु देश का निवासी व्यक्ति दुर्बलतम और शक्तिहीन हो जाता है। बहुत-कुछ यही बात लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था वाले देश में भी हो जाती है, जहाँ सरकार का कार्यक्षेत्र बढ़ता जाता है तथा अर्थव्यवस्था कुछ ही संस्थाओं के हाथ में केन्द्रित होती जाती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति को विवश होकर ऐसी संस्थाओं पर निर्भर होना पड़ता है, जो अंशतः उसके नियन्त्रण, बल्कि कल्पना के परे होती है।

बीसवीं शताब्दी की सभ्यता के अन्तर्गत एक ओर तो यह व्यवस्था चल पड़ी और दूसरी ओर युद्धोत्तरकालीन अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी की स्थिति ने सैन्यशक्ति की आवश्यकता में वृद्धि कर दी, जिससे राज्य और भी शक्तिशाली हो गया तथा व्यक्ति परस्पर-संदेह और अविश्वास का भाजन हुआ। इससे व्यक्ति-स्वातंत्र्य और भी कम हुआ।

कम्युनिस्ट और गैरकम्युनिस्ट देशों की स्थिति में जो अन्तर है, उससे बहुत से लोग परिचित हैं। किन्तु दोनों में जो समानताएँ हैं, उनके खतरे से बहुत से लोग अपरिचित हैं। अनुशासन और

एकरूपता के प्रति आग्रह तथा राष्ट्रीय हित और सुरक्षा के लिए वैयक्तिक स्वातंत्र्य की बलि ऐसी बात में है, जो लोकतन्त्र की नींव को खोखली कर रही है।

सोवियत तन्त्र और लोकतन्त्र

सोवियत ढंग की अधिनायक-व्यवस्था के विरुद्ध सबसे बड़ा दोषारोपण यह है कि उसमें निजी सम्पत्ति राज्य के हाथ में चली जाती है और तब व्यक्ति भी राज्य की सम्पत्ति समझा जाने लगता है। इस स्थिति में उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। परन्तु अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि पूँजीवादी देश में भी, जहाँ निजी सम्पत्ति सुरक्षित मानी जाती है, व्यक्ति का दमन हो सकता है। बहुमत की शासन-व्यवस्था वाले देश में यदि अल्पमत-समुदाय के प्रति उदार भावना न हो, तो वहाँ भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य का दमन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अधिनायकवादी देशों में। जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है, जब लोकतंत्र अधिनायकवाद के विरुद्ध कमर कस कर खड़ा होता है और उसी के (अधिनायकवाद के) शस्त्रों का प्रयोग उसके विनाश के लिए करने लगता है, तब वह स्वयं अधिनायकवादी स्वरूप ग्रहण कर लेता है। व्यक्ति को इससे क्या लाभ होता है ? सुरक्षा के नियम, निरन्तर की पूछताछ, जांच-पड़ताल और तहकीकात चाहे—वह किसी किसी के द्वारा की जाय, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नियंत्रण के ऐसे साधन हैं, जो रूस और चीन जैसे देशों में किये जाने वाले इस प्रकार के कार्यों से, लोकतंत्र वाले देशों में भिन्न नहीं होते, भले ही उनमें उतनी कड़ाई न हो। अपनी स्वतंत्र सैनिक मान्यताओं के कारण किसी का कहीं धंधा न पा सकना, या उसके धंधे का छिन जाना, या छिन जाने का भय बराबर बना रहना, उसकी स्वतंत्रता के लिए ठीक वैसे ही अभिशाप-सा है, जैसा कि रूस में गिरफ्तार हो जाने का निरन्तर भय।

ऐसी दशा में साधन की शुद्धता के प्रति आग्रह तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रति प्रेम की अपनी भावना के कारण महात्मा गांधी हमारे लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान है। व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति गांधीजी का आग्रह सर्वाधिक था और इस आग्रह ने ही बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की अनेक समस्याओं के निराकरण के लिए उनके सिद्धान्तों की सार्थकता प्रकट की है। इस बीसवीं शताब्दी में व्यक्ति के स्वातंत्र्य पर जो प्रहार हो रहा है और जिससे उनका मानसिक सन्तुलन ठीक नहीं रह पाता है, उसके लिए गांधी ने कुछ उपाय बताये हैं।

मानसिक सन्तुलन ठीक रखने के लिए गांधी ने सत्य का आश्रय लेने का सुझाव दिया है। मन-वचन और कर्म की एकरूपता गांधी के जीवन का लक्ष्य था। इन तीनों की एकरूपता ही सत्य है। जब मान्यता से वचन भिन्न हो और वचन से कार्य भिन्न हो, तब मनुष्य सत्य से परे हो जाता है! गांधी ने जिस पर आचरण किया, उसीका उपदेश किया और वही आचरण किया, जिसे वे मानते थे। मैंने देखा कि, अनेक प्रकार की चिन्ताओं और जिम्मेदारियों के बावजूद गांधीजी स्वस्थ, प्रसन्न और मुक्त हृदय के व्यक्ति थे और यह इसीलिए कि वे आन्तरिक शान्ति का अनुभव करते थे।

मानव को जनता-जनार्दन के रूप में देखने की अपनी प्रवृत्ति के कारण ही वे अपने अन्दर विचारों का विकास कर सके। उन्होंने व्यक्ति को भारतीय या फ्रांसीसी या ईसाई या मुसलमान के रूप में कभी नहीं देखा। वे मानव को इतना पवित्र और इतना महत्त्व-पूर्ण मानते थे कि उनकी दृष्टि में वह अदृश्य राज्यसत्ता का केवल अंग ही नहीं है, वह अपने आप में पूरा व्यक्ति है।

('दिस इज अवर वर्ल्ड' से) —लुई फिशर

रसेल का सन्देश

पारमाणविक विस्फोटों से जो संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न होती है, उसे देख कर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक स्फोट मानव-समाज के प्रति बहुत बड़ा अपराध है। यह कहना बहुत ही मूर्खता-पूर्ण है कि पारमाणविक अस्त्र रख कर कोई देश सुरक्षित रह सकता है।

शस्त्रीकरण के भरोसे सुरक्षा की बात करना आज तो पहले से भी अधिक मृगमरीचिका के पीछे दौड़ने जैसा है। जो भी हो, सुरक्षा के लिए ऐसे घृणित साधनों के पीछे दौड़ना अपराध ही नहीं, मूर्खता भी है। अतः मेरा दृढ़ विश्वास है कि जनमत संसार भर की सरकारों को इस बात के लिए बाध्य करेगा कि वे शस्त्र-संग्रह और पारमाणविक विस्फोट जेसे पागलपन से भरे गर्हित कार्यों से विरत हों।

—बर्ट्रंड रसेल

सोना और खून !

सोने का यंग पीला होता है और खून का रंग सुर्ख, पर तासीर दोनों की एक ही है। खून मनुष्य की रगों में बहता है और सोना उसके ऊपर लदा हुआ है। खून मनुष्य को जीवन देता है और सोना उसके जीवन पर खतरा लाता है। पर आज के मनुष्य का खून पर मोह नहीं है, सोने पर है। वह एक-एक रत्ती सोने के लिए अपने शरीर का एक-एक बूँद खून बहाने को आमादा है। जीवन को सजाने के लिए वह सोना चाहता है; और उसके लिए खून बहा कर वह जीवन को खतरे में डालता है। आज के सभ्य संसार का यह सबसे बड़ा कारोबार है। आज सबसे बड़ा लेन-देन है, खून देना और सोना लेना !

इस नये युग का नया खूनी देवता है—देश ! इस देवता ने इस सभ्य युग में जन्म लेकर दुनिया के सब देवताओं को पीछे धकेल दिया। आज वह संसार के मनुष्यों का सबसे बड़ा देवता है। असभ्य युग में असभ्य जातियों ने कभी भी किसी देवता को इतनी नर-बलि नहीं दी थी, जितनी कि इस सभ्य युग में इस खूनी और हत्यारे देवता को मनुष्य ने दी है और देता ही जा रहा है ! इस भयानक देवता के खून की प्यास का अन्त नहीं है। बलिदान की पुरानी तलवार के स्थान पर. मनुष्य ने अपना सारा बुद्धि-बल खर्च करके एक से एक बढ़कर खूनी हथियार इस देवता को नर-बलि से सन्तुष्ट करने को बनाये हैं। रोज-रोज एक मनुष्य का ताजा रक्त इस देवता को चाहिए। जो सबसे अधिक नर-वध कर सकता है, वही सबसे अधिक इस देवता का वरदान प्राप्त कर सकता है। यह हत्यारा देवता शायद संसार के सारे नृवंश को खा जायगा। एक भी आदमी के बच्चे को जीता न छोड़ेगा !

खून से सींचा हुआ राष्ट्रवाद दुनिया के मनुष्यों को कंगाल और तबाह करने के लिए अब भी कायम है और वह समूचे नृवंश को खींच कर भावी महायुद्ध की रंगभूमि पर लिये जा रहा है, जहाँ अब सोने के कुण्ड खून से न भरे जायेंगे, खून और सोना पिघल कर एक नयी धातु को जन्म देंगे संसार के सारे नगर, जनपद विध्वस्त हो जायेंगे, संसार का सारा जीवन समाप्त हो जायगा। रह जायेंगे इस नयी धातु के बने असंख्य पर्वतों के शृंग, जिनका रंग लाल और पीले रंग का मिश्रण होगा; और जो सूने संसार में सूर्य की धूप में व्यर्थ चमकते रहेंगे। जिन्हें देखने वाली सब आँखें फूट चुकी होंगी, समझने वाले सब हृदय जल कर खाक हो चुके होंगे, सब जीव अपने को नष्ट करके जीवन का मूल्य चुका दिये होंगे।

यही सोना और खून का सम्मिलित रूप होगा, जो आज मिल कर एक होने को बेचैन है। खून मनुष्य की रगों में बह रहा है और सोना उसके शरीर पर लदा हुआ है! जब तक ये नसें चीर कर साफ नहीं कर दी जातीं, खून की एक-एक बूंद उनमें से बाहर नहीं निकाल ली जाती, तब तक सोने को चैन कहाँ?

—आचार्य चतुरसेन शास्त्री

('धर्मयुग' से)

संसार को विनाश से बचायें

प्रकृति का यह नियम है कि सूखे के बाद हरियाली और हरियाली के बाद सूखे का आगमन होता रहता है। सूखा विनाश है और हरियाली पुनर्जीवन। पुनर्जीवन में ताजगी, स्फूर्ति और अभ्युदय की प्रेरणा मिलती रहती है, इसलिए मानव प्रकृत्या इसकी कामना करता है। यही कारण है कि सृष्टि के आदिकाल से ही वह इस प्रकार के समारोहों का आयोजन करता आया है। संसार का कोई देश हो, किसी जाति या सम्प्रदाय के लोग हों, इस प्रकार की भावना और तद्नुकूल आचरण हम सर्वत्र पाते हैं। यदि आज मानव अपने अविवेक से इस प्राकृतिक नियम को समाप्त कर देने के लिए ही कदम उठाता है, तो उसका क्या उपाय है?

यदि बड़े राष्ट्र अधिक से अधिक और उत्तरोत्तर विशेष संहारक पारमाणविक अस्त्र अपने पास संग्रह करते जायँ तथा अपनी इस मान्यता पर ही कायम रहें कि इन अस्त्रों का संग्रह करके ही युद्ध रोका जा सकता है, वह दिन दूर नहीं, जबकि यह हरी-भरी दुनिया श्मशान में परिणत हो जायगी तथा जल-जन्तु-विहीन सागर की लहरें निर्जन भूमि से टकरा कर लौट जाया करेंगी।

युद्धों में विजय प्राप्त करने के लिए न जाने कितने त्याग और

बलिदान किये गये हैं, न जाने कितने वीरत्व के कार्य हुए हैं और न जाने कितने नि-स्वार्थ कर्म हुए हैं ! इसका कारण यह है कि युद्ध में कूदने वालों के पास इन गुणों का होना अनिवार्य है। किन्तु इसके साथ ही युद्ध में कूदने वालों ने अमानवीय अत्याचारों की भी भी पराकाष्ठा कर दी है। फिर भी आज की भाँति ऐसी घड़ी कभी न आयी, जबकि युद्ध के कारण समूचे मानव-समाज के विनाश का खतरा पैदा हो गया है।

और आज तो इन उदजन बमों ने इसकी आशंका पैदा कर दी है। यह सोचना ही मूर्खतापूर्ण और मानव-जीवन के साथ खिलवाड़ करने जैसा है कि उद्जन बमों से होने वाले विनाश से घबरा कर या डरकर सरकारें इनका विस्फोट या संग्रह बन्द कर देंगी। प्राणी-मात्र नश्वर है। हम सबका एक न एक दिन अन्त होने वाला है, किन्तु प्रकृति में बार-बार आने वाली हरियाली इस बात की बराबर सूचना देती रहती है कि मानव-समाज चलता रहेगा।

वस्तुतः मृत्यु नाम की कोई चीज नहीं। कम से कम ऐसा हम मानते हैं। सभी धर्मों ने हमें यही बताया है। जो लोग आत्मा की अनश्वरता में विश्वास नहीं करते, उनके सामने भी समय-समय पर आने वाली प्रकृति की हरियाली अथवा पुनर्जीवन इस बात का प्रमाण है कि जीवन में नव-चेतना आती रहती है। यह एक विचित्र बात है कि जीवन की शाश्वत सत्यता और प्रकृति की बार-बार की हरियाली को विनष्ट कर डालने की क्षमता रखने वाले अस्त्र ईसा की शिक्षाओं को सम्बल मानने वाले निवासियों के हाथों में आ पड़े हैं।

यह कहना कि रूसवाले ईसाई नहीं हैं और उन्होंने ही इस

प्रकार हथियारों का अधिकाधिक संग्रह कर रखा है, उनके ही कारण ईसाई देश इससे विरत नहीं होते, व्यर्थ-सा है, क्योंकि हिरोशिमा और नागासाकी को रूसवालों ने तो नहीं नष्ट किया ! इन सर्वसंहारकारी अस्त्रों का प्रथम प्रयोग करने की जिम्मेदारी ईसाई देशों की है। संसार की रक्षा तभी सम्भव है, जब लोग अपनी करनी पर पश्चात्ताप करें तथा जिन देशों के पास उद्जन बम हैं, उनके निवासी अपने नेताओं पर जोर डालें कि वे विनाशकारी और पारमाणविक अस्त्रों की शक्ति पर भरोसा न कर मानव की सद्भावना, प्रेम और दयालुता की शक्ति पर भरोसा करें।

कोई भी स्थिति हो, यह हमारा कर्तव्य है कि हम संसार को, मानव को एवं प्रकृति की सारी हरियाली को विनष्ट होने से बचाने के लिए बद्धपरिकर हो जायें।

('पीस न्यूज' से) —सीबिल मॉरिसन

संसार का भविष्य युवकों के हाथों में

शान्ति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पिछले साठ वर्षों से, जब से विश्वयुद्ध किसी-न-किसी रूप में शुरू हुए, मनुष्य बराबर यह कहता आ रहा है कि हमें युद्ध से विरत हो ही जाना चाहिए, अन्यथा ये युद्ध हम ही को खा जायेंगे।

खैर ! वह समय अब आ गया है। अब इस सिलसिले का खात्मा हो रहा है। अब आगे युद्ध का जो स्वरूप होगा, उसमें एक ओर युद्ध और दूसरी ओर शान्ति ही की बात न रह जायगी, बल्कि प्रश्न यह उपस्थित हो जायगा कि मनुष्य-समाज को जीवित रहना है अथवा अपना अस्तित्व ही उसे समाप्त कर देना है ! युवकों के सामने भविष्य का हम कौन-सा नक्शा पेश करना चाहते हैं ? युवक होने का अर्थ है—उत्साह और उमंग से परिपूर्ण होना।

युवक के सामने अपना भावी दाम्पत्य-जीवन, सन्तान, अच्छी रोजी, रुचि-विशेष आदि के प्रति बड़ी उत्कण्ठा रहती है। कुछ ही दिनों बाद दाम्पत्य-जीवन में व्यवस्थित होने पर आज का युवक गृहस्थी और सन्तति-प्रजनन की ओर प्रवृत्त होने लगता है। इसीलिए कि सृष्टि का चक्र निरन्तर घूमता रहे। लेकिन यह भी हो सकता है कि सन्तति-प्रजनन-कार्य में लगने के पूर्व उन्हें चिकित्सक से परामर्श करना पड़े कि यदि उनमें रेडियो-सक्रियता का बाहुल्य हो, तो सन्तान-उत्पत्ति का खतरा वे क्यों उठायें।

अवसर दिया जाय, तो युवक हमारी रक्षा कर सकते हैं—संसार के विनष्ट हो जाने के खतरे से नहीं, वरन् नैतिक पतन की अवस्था से भी। अमेरिका के पारमाणविक क्षेप्यास्त्र-केन्द्र का संचालक मुश्किल से ३०-३२ वर्ष का है और कितने ही बड़े-बड़े इंजीनियर २०-२२ वर्षों के हैं। आप ही बताइये, १० वर्ष पूर्व उनको किस प्रकार की शिक्षा, किस प्रकार की दीक्षा मिली होगी ?

आज जो विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे हैं, ये ही कल 'हार्वेल' में या लोकसभा में पहुँचेंगे ! बताइये, इनको आज दुनिया के बारे में क्या ज्ञान प्राप्त हो रहा है ?

उनको उत्साह की जरूरत है, अपनी प्रशंसा सुनने की लालसा है, साहस के कार्य की ओर प्रवृत्त किये जाने की आकांक्षा है। लेकिन उन्हें यह प्राप्त कहाँ हो ? राजनीतिज्ञ से तो स्वप्न में भी इसकी आशा नहीं। वह अपने ही फेर में पड़ा रहता है। तो फिर क्या चर्च से मिले ? वहाँ भी नहीं ! क्योंकि वहाँ धोखाधड़ी का बाजार गर्म रहता है।

एक ही जगह है, जहाँ उनको पिछले दस वर्षों से उत्साह की प्राप्ति होती रही है, और वह है सैन्य-संगठन का भर्ती वाला विभाग ! वहाँ उनसे कहा जाता है कि "कुछ बनना हो, तो

सेना में भर्ती हो जाओ। देखो, विमान-सेना की नौकरी से कितनी इज्जत और कमाई होती है! पारमाणविक इंजीनियरिंग हो तो आज उन्नति का एकमात्र साधन है!" यही एक क्षेत्र है, जहाँ यात्रा का, अच्छे सम्पर्क का अवसर मिलता है, इतना ही नहीं, "हम कुछ कर रहे हैं", यह भाव भी मन में आता है! ऐसी स्थिति में क्या हम युवकों को इन लुभावने वाक्यों का शिकार बन जाने पर दोष दे सकते हैं? यह प्रचार का अद्भुत कौशल है!

एक बात हमें जरूर समझ लेनी चाहिए कि युवक कुछ-न-कुछ महात्त्वाकांक्षी होते ही हैं। किसी बात का विरोध करना तो समझ में आता है, किंतु इसी प्रकार की अपनी प्रकृति बना लेना ठीक नहीं। इससे मन में बराबर उद्वेग बना रहता है। बुरी बात का विरोधी होना तो इसलिए ठीक है कि आप अच्छी बात की ओर प्रवृत्त हों, क्योंकि अच्छी बातें ही जीवन में महत्त्व रखती है। अतः अब यह अवसर आ गया है कि हम युवकों को सिखायें कि वे भी जीवन में कुछ हो सकते हैं। पश्चिमी योरोप इस समय बहुत बड़े परिवर्तन की अवस्था से गुजर रहा है। पुराने साम्राज्य टूट रहे है। अब तो हमारे जीवन-निर्वाह की ही समस्या अत्यन्त जटिल हो गयी है।

और ऐसी अवस्था में लोगों की आवश्यकताएँ भी बहुत बढ़ गयी हैं। लाखों-करोड़ों लोग खंडहरों और गन्दी बस्तियों से निकल कर बाहर आ रहे हैं। लोगों की रुचि बदल रही है, उनके स्वार्थ भी बढ़ रहे हैं। बच्चे छुट्टियाँ ज्यादा चाहते हैं, और नवविवाहित व्यक्ति सुखमय जीवन की आकांक्षा रखते हैं। लेकिन इससे भी बढ़ कर बात यह है कि सन्तोष भी जीवन में चाहते हैं। वे भले ही इसको न समझते हों, भले ही इससे वे भयभीत भी होते हों,

लेकिन यह तथ्य है कि युवक के जीवन को सबसे बड़ी आकांक्षा स्वतंत्रता, सौन्दर्य के प्रति प्रेम और उपयोगिता होती है।

कारखानों में होने वाली हड़तालें इस बात की ही सूचक नहीं कि कर्मचारी दबाव डालकर वेतनवृद्धि ही करवाना चाहते हैं, बल्कि ऐसा कहिये कि प्रत्येक कर्मचारी के मन में निराशा की जो भावना रहती है, उसकी भी अभिव्यक्ति इन हड़तालों के माध्यम से होती है। आज के समाज का जो स्वरूप बन गया है और जिसके चलते यह बात विस्मृत कर दी गयी है कि समाज एक-एक मनुष्य से बना है; उसके प्रति विरोध-भावना की अभिव्यक्ति इन हड़तालों से होती है। यह जान लेना चाहिए कि एक-एक पुरुष, स्त्री-बच्चे, युवक, प्रौढ़, वृद्ध के समूह का नाम ही समाज है और सरकार इसे माने या न माने, एक-एक मानव ही वस्तुतः विचारणीय है।

आज नहीं तो कल विस्फोट होगा ही, दमन और अन्याय समाप्त होकर रहेंगे। लेकिन इसका उपाय क्या है? कुछ लोग कहते हैं कि युद्ध होने पर यह सब खतम हो जायगा, किन्तु इस उद्देश्य से बहुत बार युद्ध हो चुके हैं और आगे भी उनके किये कुछ नहीं होगा।

इसके प्रतिकूल शान्ति के लिए दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करने में इसकी समाप्ति संभव है। सच बात यह है कि शान्ति के लिए बहुत ही प्रयास की आवश्यकता है तथा उसके लिए जमकर काम करने की जरूरत है। एक बार भी यदि भय और सन्देह का वातावरण दूर हो जाय, तो शान्ति की असीम संभावनाएँ सामने आने लगती हैं। जिस सुख-शान्तिपूर्ण संसार की कल्पना हमारे पूर्वजों ने की थी, वह कल्पना का विषय न रह कर सत्य का स्वरूप धारण कर लेगा!

जीवन के कलात्मक पक्ष के सम्बन्ध में हमारा जो कुछ परिज्ञान है, उसके आधार पर हम यही कहते हैं कि यदि उसको ठीक-ठीक

व्यवहार में लाया जाय, तो यह संसार अभिशप्तावस्था से ही मुक्त न हो जायगा, वरन् जिस समाज की सृष्टि होगी, उसमें लोग मानव की भाँति रहने लगेंगे। मनोविज्ञानवेत्ता जिस मुक्त व्यक्तित्व की कल्पना करता है, धर्मोपदेशक जिस आध्यात्मिक स्वरूपवाले व्यक्तित्व के लिए उपदेश करता है तथा समाज-सुधारक जिस सुखी अभावमुक्त समाज के सपने देखा करता है, वे सब क्षण-मात्र में हम सत्य कर सकते हैं। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि हम उसके लिए प्रयत्नशील हों। मनुष्य की काया धारण कर हम पूर्ण तो नहीं हो सकते, किन्तु यह अवश्य है कि सारी अपूर्णताओं के बावजूद हम चाहें, तो वे विवेकपूर्वक, नम्रतापूर्वक और बुद्धिपूर्वक रह सकते हैं।

किन्तु इस प्रकार का जीवन बिताने में बाधा क्या है? एक शब्द में इसका उत्तर है, भय की भावना। यह जान लेना चाहिए कि भय का भाव मन में आते ही मनुष्य की सारी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। यदि हम भय के वशीभूत होकर आज की ही भाँति पारमाणविक अस्त्रों का संग्रह करते जायँ और अपने स्व-घोषित विरोधों के सामने उन अस्त्रों का भरोसा करके डींग मारते जायँ, तो उससे कोई लाभ नहीं हो सकता।

शान्ति का एक ही मार्ग है—उसके लिए दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करना। हम आज चल तो रहे हैं युद्ध के मार्ग पर, किन्तु चाहते हैं शान्ति। यह क्या कभी सम्भव है? न आज तक यह हुआ और न आगे होने वाला है। आशा का एक ही सम्बल है। सैनिक भर्ती के अभियान की गति बहुत कुछ मन्द हो चली है। सेना के प्रति अब लोगों के मन में वह आकर्षण नहीं रह गया है। सारा खिंचाव खतम हो चला है! प्रश्न है कि अब क्या होगा? मेरा कहना यही है कि यदि शान्ति-आन्दोलन ठीक ढंग से चलाया जाय, तो युवकों

को आकृष्ट करने में यह विफल न होगा। वे उत्साह से यह काम अपने हाथ में ले लेंगे।

सदा ही संसार के नवनिर्माण की आवश्यकता रही है, किन्तु आज जैसी आवश्यकता पहले कभी नहीं रही है और न पहले यह कार्य इतना सरल ही था। लेकिन संसार के नवनिर्माण के पूर्व हमें युद्ध से तो पिण्ड छुड़ा ही लेना होगा।

('पीस न्यूज़' से) —टाम वार्डल

सेवाग्राम में नयी तालीम की अध्ययन-गोष्ठी

(विमलाबहन)

सेवाग्राम में नयी तालीमी संघ की ओर से जुलाई के पहले हफ्ते में जो अध्ययन-गोष्ठी हुई, वह बहुत महत्त्वपूर्ण रही। नयी तालीम को ग्रामदान और ग्रामराज के सन्दर्भ में किस तरह अमल में लाया जाय, यह विचार शुरू से ही चल रहा था। उस सम्बन्ध में नयी तालीमी-संघ ने एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया। प्रस्तुत सेमिनार उसी दिशा में एक अगला कदम था। जो चर्चाएँ और भाषण वहाँ हुए हैं, उनमें से कुछ भाषणों का सार यहाँ देना उपयुक्त होगा।

सब लोगों का स्वागत करते हुए श्री आशादीदी ने, बारिश के कारण लोगों को होने वाली तकलीफ के लिए पहले क्षमा-याचना की। ग्रामदान और नयी तालीम के सम्बन्धों का जिक्र करते हुए फिर कहा : "ग्रामदान से नयी तालीम का दरवाजा ही खुल गया है। हम चाहते थे कि बाबा के सामने यह गोष्ठी हो, लेकिन उन्होंने कहा कि हमारा सारा ध्यान अभी ग्रामदान की ओर ही लगा हुआ है और यदि यहाँ गोष्ठी होती है, तो हमारा ध्यान उधर बंट जायगा। इसलिए यह आयोजन बाबा के सामने नहीं हो सका।

बापू ने जेल से आने के बाद सन् "४५ में नयी तालीम का उद्घाटन किया था। हम अपने उस लक्ष्य तक तो अभी नहीं पहुँचे हैं, लेकिन हम जा उधर ही रहे हैं, वही लक्ष्य हमारा शाश्वत ध्रुवतारा है।"

गोष्ठी के उद्घाटन-भाषण में पू० काका साहब ने गुजरात विद्यापीठ में बापू ने जो सिद्धान्त बताये थे, उनका जिक्र करते हुए कहा कि "बापू ने मुख्यतः दो-तीन बातें हमारे सामने रखीं : (१) धन-जन-बुद्धि-शक्ति राष्ट्रसेवा में लगायी जाय, (२) प्रचलित अर्थ-शास्त्र बदल दिया जाय और आर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्र में सर्वांगीण दृष्टि ग्रहण की जाय और (३) अध्ययनक्रम न तो दुनिया के प्रचलित अभ्यास-क्रम के अनुसार ही तैयार हो, न हमारे प्राचीन ग्रन्थ के ही आधार पर ही। वह तो प्रत्यक्ष अनुभव के और परि-स्थिति के आधार पर ही बने।

"इस दिशा में हम लोगों ने कुछ काम किया और गुजरात विद्यापीठ का रूप सामने आया। उसके बाद नयी तालीमी-संघ की स्थापना हुई। अब लक्ष्य, कार्य और जिम्मेवारी बढ़ गयी है। अतः इस नये गुजरात विद्यापीठ का अर्थात् नयी तालीमी-संघ का यह कार्य होगा कि देश की जो माँग है, उसकी पूर्ति करें, जीवनदानी राष्ट्र-सेवक निर्माण करें और समाज में स्वतंत्र-वृत्ति का विकास करें। हमको मानव-संस्कृति के आधार पर गाँव का पुनर्निर्माण करना है और वही हमारा लक्ष्य है। आज के ग्रामदानी गाँव भी शहरों के अनुयायी हैं। योजनाएँ भी आज उस पुराने ढाँचे के आधार पर ही बनती हैं। लेकिन हमारी क्रान्ति का आधार ग्राम है और यह क्रान्ति विश्व की बुराइयों का इलाज है। आज एक सन्त की प्रेरणा के ही कारण ऐसा मौका मिला है कि ग्रामों का विकास ग्रामों की दृष्टि से हो।"

जाति-प्रथा के बारे में अपनी वेदना प्रगट करते हुए उन्होंने कहा कि "आज वह समाज के लिए कोढ़ बन गयी है, इसलिए हमको कुटुम्ब-धर्म की स्थापना करनी ही होगी। वस्तुतः वह धर्म ही नहीं है, जो कुटुम्ब में दाखिल नहीं होता और उसका विकास नहीं करता।"

शिक्षा-शास्त्र जीवनशास्त्र ही है, यह बताते हुए उन्होंने कहा कि "ज्ञानगोष्ठी का आधार शुद्ध जीवन का स्पष्ट चित्र होता है। हमको ऐसा स्पष्ट चित्र सामने रखकर चलना है। सीलोन में मुझसे पूछा गया—दो लफ्जों में ग्रामदान का अर्थ बताइये। मैंने कहा, 'सारे समाज को कुटुम्ब बनाने की प्रक्रिया का ही नाम ग्रामदान है।' इस तरह भगवान् ने ग्रामदान द्वारा शिक्षा का स्रोत हो चालू कर दिया है। यह नयी तालीम की प्रयोगशाला ही है।"

श्री शंकररावजी ने साधन-साध्य-विवेक के सम्बन्ध में बड़ा प्रेरक भाषण दिया। उन्होंने बताया ग्रामराज हमारा साध्य है और उसका समानार्थी शब्द अहिंसक समाज ही है, इसलिए अहिंसक तरीके से ही वह प्राप्त किया जा सकता है।

"गांधीजी ने कहा था : 'जमींदार स्वेच्छा से भूमि-अधिकार छोड़ देंगे।' लोगों के मानसरोवर में जो समर्पण की इच्छा थी. उसे ही विनोबाजी ने रूप दे दिया और भगीरथ का काम करके भूदान-गंगा को अवतरित किया।"

श्री शंकररावजी ने एक बात की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया कि "नेतृत्व के साथ सेवकत्व का भी विसर्जन करना चाहिए, क्योंकि ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। शासन-निरपेक्ष समाज की पहली शर्त है, व्यवस्थापक-पद को ही हटा दिया जाय, जो नेता के साथ सेवक के रूप में भी चला आता!"

श्री शंकररावजी ने आजादी की व्याख्या करते हुए बताया कि

"विचार, चिन्तन, क्रिया, इन सबमें मनुष्य का अभिक्रम कायम रहे। वही सच्ची आजादी है। ग्राम-संकल्प, स्वदेशी धर्म और सन्त-संस्कृति के समन्वय से ही ग्रामराज आयेगा।"

श्री शंकररावजी ने अपने दूसरे भाषण में नयी तालीम का रूप स्पष्ट करते हुए बताया कि "अहिंसक क्रान्ति का माध्यम नयी तालीम ही हो सकती है। जहाँ ग्राम-संकल्प सर्वसम्मति से हुआ कि उसके बाद की रचना में से दबाव ही समाप्त हो जाता है और गाँव की सारी शक्ति रचना में लग जाती है। हमको तो सच्चा लोकराज्य कायम करना है। आज के लोकतंत्र में होता यह है कि पाँच साल में एक बार ही लोग विचार करते हैं और फिर विचार-हीन बन जाते हैं। जहाँ मनुष्य विचार नहीं करता, वहाँ उसमें और पशु में फिर फरक ही क्या रह जाता है ? अगर कार्यक्षमता और मानवीय मूल्यों के बीच हमें चुनाव करना हो, तो मानवीय मूल्यों का ही हमें चुनाव करना होगा। इस नये प्रजातंत्र की स्थापना में नयी तालीम ही कारगर हो सकती है।"

इन लोगों के अलावा श्री दादा धर्माधिकारीजी, डॉ० ज्ञानचन्द जी, श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे आदि के विचार-प्रेरक भाषण हुए, चर्चाएँ भी अच्छी हुईं। [—भूदानयज्ञ, २६ जुलाई '५७]

"...आदर्श लोकतंत्र में राज्य का कुछ या बिल्कुल स्थान नहीं होगा, क्योंकि व्यक्ति अपने मामलों को अपने पड़ोसियों के सहयोग से हल कर लेगा, तब सुविकसित राज्यहीनता आती है। ऐसी स्थिति में हरेक अपना शासक होता है। वह अपने ऊपर इस प्रकार से शासन करता है कि कभी भी अपने पड़ोसी के लिए बाधक न हो।

—भारतन् कुमारप्पा

भूदान से सार्वजनिक उत्साह की लहर

इसी बीच में 'भूदान' ने भारत में एक शक्ति का रूप ले लिया। जमीन का फिर से बँटवारा कराने में उसे जो कामयाबी हुई हो, उससे भी कहीं ज्यादह अहमियत उसे मिल गयी है। 'दान' ने एक नयी धार्मिक निष्ठा और पवित्र युद्ध का रूप ले लिया। जिनके पास जमीन के अलावा गरीबों को देने के लिए दूसरी तरह की जायदाद थी, उनके लिए सम्पत्तिदान निकाला गया। भावे के आन्दोलन का जो जादू की तरह असर हुआ, उससे भावाविष्ट होकर, खुशहाल महिलाएँ, भावे की प्रार्थना-सभाओं में भेंट चढ़ाने के लिए कीमती साड़ियों की थप्पियाँ लाने लगीं और अपने जेवर तथा जवाहिरात उतारने लगीं। आखिरी कदम था,—'श्रमदान' (वुद्धिदान ?) या 'मानसिक दान', इस 'दान' ने आन्दोलन में उन लोगों को भी दाखिल कराया, जो अपनी बौद्धिक सम्पत्ति में से ही कुछ दे सकते थे।

आजाद भारत अपने पैरों पर खड़े होने की और अपने आपको ऊपर उठाने की जोरदार कोशिश कर रहा था, उसमें एक बात की कमी थी, जिसे भूदान ने पूरा किया। यह कमी थी सार्वजनिक उत्साह की। कई शताब्दियों तक भारत के नागरिक को दैववाद की निष्क्रियता की आदत हो गयी थी। उनका शासन हमेशा ऊपर से होता रहा। अवाम की हालत में तरक्की करने के लिए जो उपाय जरूरी हों, उनको काम में लाने के लिए वह अपने से ऊपर वालों का इन्तजार करता रहता था। वह अपने बाप-दादों के तरीकों में ही पला था और नये तरीकों की खोज तब तक नहीं करता था, जब तक कि कोई दूसरा उन नये तरीकों को आजमा कर उनके फायदे साबित न कर दे। और आखिरी बात, उसका

उसका धर्म उसे यह सिखाता था कि इस जिन्दगी में कुछ भी क्यों न होता रहे, उसकी बहुत कीमत नहीं है।

गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन ने जिस प्रकार सत्याग्रह के द्वारा भारतीय लोकमानस को प्रदीप्त किया था, उसी तरह आध्यात्मिकता का आवाहन कर भूदान ने भी लोकमानस प्रदीप्त किया राजनैतिक क्षेत्र में जिन रहस्यमय शक्तियों के सामने अंग्रेज ठहर नहीं सके, उन्हीं शक्तियों को आर्थिक उत्थान के लिए एकत्रित करने का यह प्रयास है।

बहुत से लोगों ने कहा है कि भूदान एक ऐसा अनोखा दृश्य है, जो भारत में ही घटित हो सकता है। यह भी उतना ही वास्तविक हो सकता है कि केवल ऐसा ही रहस्यमय समाधान, जिसकी पूरी जानकारी और प्रयोग सर्वप्रथम गांधीजी ने और अब विनोबा ने किया, भारत की जनता को व्यावहारिक फल के लिए अग्रसर करने की क्षमता रखता है।

('ऐंज आई सी इण्डिया' से) —रॉबर्ट ट्रम्बेल

राज्य-विश्वविद्यालयों के प्राचीन सम्बन्ध फिर कायम हों!

भारत की आधुनिक शिक्षा और संस्कृति के उद्धार के लिए हम कैसे भारतीय आदर्शों को उन पर लागू करें यह ऐसा प्रश्न है, जिसे केवल भारतीय विश्वविद्यालय हल कर सकते हैं। किन्तु इसे हल करने के पूर्व (नहीं, यह कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व) राज्य और विश्वविद्यालयों के बीच प्राचीन सम्बन्ध पुनः स्थापित किये जाने चाहिए। शिक्षा पुनः प्राचीन आदर्शों से प्रेरित होनी चाहिए तथा इन्हें नये रूप में रखा जाय—इस उद्‌देश्य से कि ये नये रूप भारत के जीवन की अभिव्यक्ति—न कि उसे सीमित करने वाली तंग

सदरी—हों, शिक्षा और संस्कृति को प्राचीन स्वतंत्रता अवश्य मिलनी चाहिए। सरकार को शैक्षणिक और सांस्कृतिक संस्थाओं की सहायता के लिए उन्हें भौतिक साधनों—भूमिदान, भवन और अन्य आवश्यक सामान के लिए धन के अनुदान—की व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे ये राष्ट्र को राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य-संचालन के लिए उच्च, चरित्रवान्, विद्वान् और निपुण व्यक्तियों—पुरुषों और महिलाओं की अमूल्य पूंजी दे सकें। राष्ट्र द्वारा शिक्षा के लिए दिया गया धन, दान नहीं, बल्कि लगायी गयी पूंजी है। इससे राष्ट्र को अधिक सूद ही नहीं, बल्कि व्यक्ति को भी अधिकार और सुख प्राप्त होता है।

विद्वान् व्यक्ति साहित्य-रचना करते हैं, जिससे दुनिया की निगाहों में राष्ट्र उठता है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह होती है कि विश्व भर में ज्ञान का प्रसार होता है। विद्वान् ऐसे साहित्य का प्रणयन करता है, जो केवल समकालीन व्यक्तियों को ही नहीं, बल्कि भावी पीढ़ियों को ऊँचा उठाता और अनुप्राणित करता है। विज्ञान ऐसे आविष्कार करता है, जिनसे मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है और प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर उसके आधिपत्य की वृद्धि होती है। यदि मानव केवल सन्मार्ग पर चले, तो इन आविष्कारों से उसकी उन्नति कायम रहेगी तथा मानव-जीवन और सुख की वृद्धि होगी। अपने आध्यात्मिक, बौद्धिक, भावयुक्त तथा शारीरिक गुणों के शिक्षण और संस्कार से मनुष्य राक्षस से ज्ञानी और महात्मा बनाया जा सकता है; उसकी दरिद्रता मिटायी जा सकती है; समाज असभ्य के बदले मातृभावनायुक्त बनाया जा सकता है; अपराध से, जो अज्ञान के परिणामस्वरूप है, मुक्ति प्राप्त की जा सकती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक शान्ति, युद्ध और वर्ग-संघर्ष का स्थान ग्रहण कर सकती है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति का स्वरूप

प्राचीन भारतीय पद्धति में शिक्षा और संस्कृति स्वनियंत्रित थे। यद्यपि राज्य-संघटित राष्ट्र-उनसे लाभान्वित होता था और उनसे इसे प्रतिष्ठा, धर्म, नीति, प्रभाव और परिणामतः निपुणता प्राप्त होती थी, तथापि इसकी सरकार के व्यवस्थापिका और शासन-विभाग उन पर कोई नियंत्रण नहीं रखते थे और उनके प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे। नरेशों ने विश्वविश्वालय बनवाये और उन्हें सम्पत्ति दी, किन्तु उन पर अपने किसी अधिकार का दावा नहीं किया। राजा विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह में जा सकता था, किन्तु कोई उसका स्वागत करने के लिए नहीं उठेगा और नह अन्य दर्शकों की भाँति अपना स्थान ग्रहण करेगा। किंतु विश्वविद्यालय के कुलपति—'पूज्यों के पूज्य'—के प्रवेश करते ही सभो उनको ओर अभिमुख होकर खड़े हो जाते थे तथा मौन होकर उनके वचन की प्रतीक्षा करते थे। विश्व-विद्यालय विद्यामन्दिर था और विद्वान ही इसके पुरोहित थे। जब विद्वान् नरेश के यहाँ जाता था, जब बुद्धिमान् न्यायालय में प्रवेश करता था, तब श्रीकृष्ण ऐसे महानुभाव भी अपने सिंहासन से उतर जाते थे और उस ऋषि के चरणों म प्रणत होते थे।

आधुनिक पद्धति में शिक्षा सरकारी विभाग के नियन्त्रण में है; व्यवस्थापिका-सभा इसके लिए कानून बनाती है; शासन विभाग अपने संचालक या मंत्री नियुक्त करता है, जो इसके वास्तविक स्वामी हैं; यह (शासन-विभाग) अपने स्कूलों और कालेजों में अपने निरीक्षक (इन्स्पेक्टर) भेजता है तथा शिक्षकों को कठिन बन्धन में, जिसे 'निपुणतया' की झूठी संज्ञा दी जाती है, रखता है।

('इण्डियन आइडियल्स') —एनी बेसेंट

ग्राम-स्वराज कैसा हो ?

ग्राम-स्वराज के सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि इसे पूर्ण गणतन्त्रात्मक होना चाहिए, जो अपनी मुख्य आवश्यकताओं के लिए अपने पड़ोसियों पर आश्रित न रहें, फिर भी अन्य वस्तुओं के लिए, जहाँ निर्भरता आवश्यक हो, यह आश्रित रहे। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम का पहला विषय (कार्य) अपने खाने के लिए अन्न तथा वस्त्र के लिए रूई उत्पन्न करना है। गाँव में पशुओं के लिए संरक्षित चारा तथा बालिग व्यक्तियों और बच्चों के लिए मनोरंजन और खेल के मैदान होने चाहिए। गाँव अपने यहाँ एक नाट्यशाला, स्कूल और सार्वजनिक भवन की व्यवस्था करेगा।....शिक्षा अन्तिम बुनियादी पाठ्यक्रम तक अनिवार्य रहेगी। प्रत्येक कार्य यथासम्भव सहकारिता के आधार पर संचालित होगा।

अहिंसा अपने सत्याग्रह और असहयोग के साधनों के साथ ग्रामशासन का आधार होगी। गाँव के बालिग व्यक्तियों, स्त्री और पुरुषों द्वारा प्रति वर्ष निर्वाचित पाँच व्यक्तियों की, जिनके लिए न्यूनतम योग्यताएँ निर्धारित होंगी, एक पंचायत होगी। आज भी कोई गाँव बिना हस्तक्षेप के—यहाँ तक कि वर्तमान सरकार द्वारा भी ऐसा न होगा, जिसका गाँव से एकमात्र मुख्य सम्बन्ध मालगुजारी वसूल करना है—उस प्रकार का गणतंत्र बन सकता है।

—महात्मा गांधी

(क्लेयर ऐण्ड हैरिस वीफोर्ड की "इण्डिया एफायर" पुस्तक से)

विनोबा-सुखलालजी चर्चा

विनोबा—"हम लोग पहले कब मिले थे ?"

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी—"लगभग ८ वर्ष पहले आप जब साबरमती आश्रम आये थे, तब मिले थे और बैठ कर बातें की थीं।"

विनोबा—"आपकी उम्र कितनी हुई ?"

पंडितजी—"उम्र के बारे में जब मानसिक दृष्टि से मैं विचार करता हूँ, तो लगता है कि अन्तःशरीर में जो उम्र हुई, वही सच्ची उम्र है। इससे शारीरिक वृद्धावस्था का बहुत असर मन पर नहीं पड़ता और कुछ कुछ यौवन की प्रसन्नता का अनुभव होता है !"

विनोबा—"विद्याध्ययन के सम्बन्ध में आपका क्या अनुभव है ?"

पंडितजी—"यह वस्तु सापेक्ष है। विद्यार्थी न हों, तो विद्या-जीवन चल ही नहीं सकता। मेरे-जैसे के लिए तो विद्यार्थी ही जीवन का आधार हैं। ये जितना ज्ञान प्राप्त करेंगे, उतना ही विद्याजीवी व्यक्ति के लिए संतोष की बात है। इस प्रकार विद्यार्थी और अध्यापक का विद्या-संबंध अविभाज्य है। कम से कम मेरे जीवन का तो यही तथ्य है। दूसरे का आधार न मिले, तो चल ही नहीं सकता। आधार का उपयोग करना और उस पर से अपना मूल्यांकन करना; इस प्रकार मैं प्रत्येक वस्तु को अपने जीवन के चारों तरफ संगठित करता हूँ। इस दृष्टि से मेरा अध्ययन-अध्यापन का अनुभव अत्यन्त मधुर है।"

"गुजरात में भी ग्रामदान शुरू हो गया है"—विनोबाजी ने कहा,

पंडितजी कहते गये—"हाँ, गुजरात में जगह-जगह भूदान-विचार की प्रगति हो रही है और ग्रामदान भी होने लगा है। उसके जो समाचार मुझे मिलते हैं, उनके अनुसार कहूँ तो कार्यकर्ता-समुदाय में, लोग समझते हैं उस अनुपात में, विकास एकदम नहीं होता। इसमें सातत्य और प्रयत्न की विशेष जरूरत तो होती ही है।

भूदान की मौलिक भूमिका

"गुजरात में कार्यकर्ताओं की पुरानी पीढ़ी के साथ नयी पीढ़ी भी आ रही है, जिस तरह बापू १९१४-१५ में आये, तब कांग्रेस में नयी पीढ़ी का निर्माण हुआ। स्वराज्य मिलने के बाद उत्साह का दौर मन्द पड़ रहा था, अपने-अपने क्षेत्र में लोग ज्यादातर सरकार की टीका ही करते थे। उस समय भूदान का विचार सामने आया। इससे नयी पीढ़ी को चेतना मिली, बुद्धि-शक्ति और कर्तृत्व के लिए क्षेत्र मिल गया। पुरानी पीढ़ी को भी कुछ चाहिए था ही। अगर यह नया विचार उसके सामने नहीं आया होता, तो वे भी क्या करते, यह कहना कठिन है। इस प्रकार पुरानी पीढ़ी के अमुक वर्ग के साथ उत्साही और कार्य चाहने वाली नयी पीढ़ी के लोग भी जुड़ गये। गंगा में जब नया प्रवाह आता है, तो पुराने पानी के साथ वह मिल जाता है और नया-पुराना पानी मिल कर एक-सा प्रवाह हो जाता है। इसी तरह मैं आज भूदान-कार्य करने वालों को देखता हूँ। भूदान का कार्य नया है। इसमें वे लोग ही आवेंगे और टिक कर काम कर सकेंगे, जिनमें मानसिक स्वस्थता और धैर्य है। गुजरात में जो स्थिति हैं, वही लगभग सारे प्रांतों में कही जा सकती है।

"तात्त्विक विचार भी लोगों को अपील करता है—स्पर्श करता है। भूदान की मौलिक भूमिका यानी अहिंसा-अपरिग्रह के विचार को व्यापक बनाने की भूमिका ऐसी निश्चित है कि इसे कोई हटा नहीं सकता।"

"मैं देख रहा हूँ कि भूदान में अब कुछ दूसरे लोग भी आने लगे हैं।"—विनोबाजी ने कहा।

पंडितजी—"आजकल स्कूल-कॉलेजों में से जो विद्यार्थी निकल रहे हैं, वे ज्यादातर छिछले होते हैं। लोग आज मेहनत नहीं करना चाहते। किसी तरह परीक्षा पास कर लेना ही उनका ध्येय होता है। गंभीर साहित्य का वाचन-मनन एक विरल बात हो गयी है।

फिर भी जो जिज्ञासु वर्ग है, वह आपका गंभीर साहित्य पढ़ता है। और उसमें उसको विचारों का अपेक्षित भोजन मिलता है।

तर्क के सत् और असत् दोनों पक्ष होते हैं अर्थात् तर्क 'कु' और 'सु' दोनों प्रकार का होता है। कुतर्क को अक्षौहिणी सेना बहुत बड़ी होती है। उसकी अपेक्षा सुतर्क की सेना छोटी होती है। पर सच्चा बल उसमें ही होता है।

"नयी पीढ़ी और तरुण वर्ग के लिए उस प्रकार के किसी प्रेरक मार्ग की आवश्यकता थी ही। पंजाब के हत्याकांड के बाद कांग्रेस तरफ से एक जाँच समिति कायम की गयी थी। शायद उसकी रिपोर्ट तैयार करने के लिए बापूजी बनारस आये थे। वहाँ से अहमदाबाद गये। उस समय उनकी तबीयत कुछ खराब थी। सेने सहज भाव से भक्तिवश उनसे कहा—"एक महीना पूरा विश्राम कीजिए।" बापूजी ने फौरन कहा—"क्या इस शरीर को अजगर की तरह पड़ा रखूं ?" इतने में कालेज के कुछ विद्यार्थी आ गये। स्वराज की भावना हवा में गूंजती थी। उन्होंने बापूजी से पूछा— "हमारा क्या कर्तव्य है ?" बापूजी ने उत्तर दिया—मैं तो निर्दोष जीवन जीने का निर्दोष मार्ग बता रहा हूं।

"मुझे लगता है कि आज भूदान का मार्ग वैसा ही निर्दोष और उपयोगी मार्ग है।"

"....पिछले चार-पाँच वर्षों में उत्साहपूर्ण परिवर्तन दिखायी पड़ रहा है। इसके पक्ष में बौद्धिक संस्कार भी अमुक वर्ग में है, यह तो दीखता है, परन्तु अन्तर में प्रस्फुटित जो प्रेरणा मानस को जागृत करती है, उसी का वास्तविक महत्त्व होता है।...."

अन्त में विनोबाजी ने 'आपको भक्तिभावपूर्वक प्रणाम' कह कर बिदा ली।

('तरुण') —प्रतापराय टोलिया

त्याग ही भारत का आदर्श

हम सभी भारत के पतन के विषय बहुत कुछ सुनते हैं। एक समय ऐसा था कि मैं भी इसमें विश्वास करता था, किन्तु आज उनुभव के बल पर तथा आँखों के सामने बाधक (मन को) पूर्व-भावनाओं की तस्वीर और विशेषकर उन दूसरे देशों का अतिरंजित चित्र न होने के कारण, जिनके प्रत्यक्ष सम्पर्क से अब उनका चित्र उचित रूप-रंग दृष्टिगोचर है, मैं अति विनम्र भाव से यह स्वोकार करता हूँ कि मैं गलती पर था। आर्यों की धन्य भूमि! तेरा कभी पतन नहीं हुआ। राजदण्ड तोड़ या फेंक दिये गये, शक्ति का गेंद इस हाथ से उस हाथ में घूमता रहा, किन्तु भारत में न्यायालयों और नरेशों ने सदा थोड़े व्यक्तियों को ही प्रभावित किया है। विशाल जनसमूह—बड़े से लेकर छोटे व्यक्तियों तक—अपने निश्चित मार्ग पर चलने के लिए मुक्त छोड़ दिया गया; राष्ट्रीय जीवन की धारा कभी मन्द और अर्धचेतन तथा कभी प्रबल और जाग्रत रूप से प्रवाहित होती रही। मैं बोसियों जाज्वल्यमान शताब्दियों की, अभंग शोभायात्रा (जुलूस) के समक्ष, जिसमें यहाँ-वहाँ की धूमिल कड़ी केवल आगे की कड़ी को अधिक प्रकाशमान बनाने के लिए है, श्रद्धावनत हूँ। उसमें मेरो मातृभूमि अपने गौरव-युक्त पद रखतो हुई अपने उस गौरवपूर्ण भाग्य का—पाशविक मनुष्य को देव-मनुष्य में परिवर्तन—निर्माण करने के लिए, जिसे पृथ्वी या स्वर्ग की कोई शक्ति नहीं रोक सकती, विचरण कर रही है।

हाँ, मेरे बन्धुओं! गौरवपूर्ण भाग्य का निर्माण त्याग द्वारा हमें करना है। क्योंकि उपनिषद् काल से ही हमने विश्व को यह चुनौती दी है कि "अमरत्व धन द्वारा नहीं, संतति द्वारा नहीं, अपितु त्याग से ही प्राप्त किया जा सकता है।" एक के बाद दूसरी जातियों ने

इस चुनौती को स्वीकार किया तथा वासनाओं के आधार पर इस विश्व-पहेली को सुलझाने का भरसक प्रयत्न किया। ये अतीत में अपने इस प्रयत्न में विफल हो चुकी हैं—प्राचीन जातियाँ दुष्टता और दुःख के--जो शक्ति और धन की वासना के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं, बोझ से नष्ट हो गयीं और नयी जातियाँ पतनोन्मुख हैं। अभी इस प्रश्न का समाधान होना है कि शान्ति अथवा युद्ध, धैर्य अथवा असहिष्णुता, अच्छाई, सद्भाव अथवा चातुर्य, सांसारिकता अथवा आध्यात्मिकता, इनमें कौन टिका रहेगा। हम युगों पूर्व इस प्रश्न को हल कर चुके हैं और हम सुदिन या दुर्दिन में इस सिद्धान्त को लिये रहे हैं तथा अन्त काल तक इसको अपनाये रहने का विचार रखते हैं। हमारा समाधान है असांसारिकता, त्याग।

('इंडिया' से) —स्वामी विवेकानन्द

कृषि-उन्नति क्यों रुकी ?

ग्राम-पद्धति "खेती तथा दस्तकारी व्यवसायों के घरेलू (घनिष्ठ) मेल" के आधार पर बनायी गयी थी। "हाथकरघा और चरखा प्राचीन भारतीय समाज के ढांचे के प्रधान आधार थे।" किन्तु बिना अधिकार के प्रवेश करने वाला यह ब्रिटेन था, जिसने भारतीय हाथ-करघे को तोड़ डाला तथा चरखे को नष्ट कर दिया।' इस प्रकार से ब्रिटेन ने "एशिया में सबसे बड़ी और सचमुच एकमात्र सामाजिक क्रान्ति की, जो अभूतपूर्व थी !" इस क्रान्ति ने न केवल शिल्पकारी के पुराने नगरों को नष्ट कर डाला, जिससे उसकी आबादी को विवश होकर गाँवों में एकत्र होना पड़ा, बल्कि इसने गाँवों के आर्थिक जीवन का संतुलन ही समाप्त कर दिया। इससे खेती पर अत्यधिक दबाव पड़ा, जो अब तक भारी पैमाने पर जारी है। इसके साथ ही साथ किसानों से आवश्यक विस्तार और कार्य

के लिए बिना उन्हें कोई प्रतिफल (बदला) दिये, निर्दयतापूर्वक अधिकतम मालगुजारी वसूल करने के कारण (सन् १८५०-५१ में वसूल १९,३००,००० पौंड मालगुजारी मे से केवल १,६६,३९० पौंड यानी ८ प्रतिशत धन प्रतिफल-रूप में सार्वजनिक निर्माण पर खर्च किया गया था।) कृषि की उन्नति भी रुकी।

('इंडिया टुडे' से) —आर० पाम दत्त

मूल नीति—शान्ति

जब तक शान्तिवादी अपनी मूलभूत नीति के रूप में शान्तिवाद का प्रतिपादन करने के अपने मुख्य कार्य से अपने-आप को विचलित होने देंगे और युद्धवादियों को उनकी करतूतों के तर्कप्राप्त परिणामों से बचने के रास्ते बतलाने का प्रयत्न करेंगे, तब तक क्रियाशक्ति और बल का अपव्यय ही होगा।

शायद इससे अधिक अनुकूल समय पहले कभी नहीं था, क्योंकि लोकमत की आवाज़ इतनी साफ़ हमेशा नहीं सुनायी देती।

केर हार्डी एक सामान्य श्रमिक थे, और वे सीधी-साधी भाषा में बोलते थे, जिससे कि जिन लोगों के सामने वे बोलते थे वे लोग उनकी बात को समझे बिना न रहें। उन्होंने शान्तिवाद की बड़ सरल व्याख्या की, जबकि उन्होंने यह कहा कि—"लोग जब लड़ने से इन्कार करेंगे, तो लड़ाइयाँ अपने आप बन्द हो जायेंगी।"

(अंग्रेजी से अनूदित) —सिविल मोरिसन्

लोकनीति : एक चिन्तन

(विमला बहन)

[लोकनीति के विषय में स्वाध्याय तथा स्वतन्त्र चिन्तन की नितान्त आवश्यकता है। अपने चिन्तन के कुछ नतीजे सहचिन्तन की दृष्टि से यहाँ दे रही हूँ। आशा है कि इस स्तम्भ के द्वारा हमारे साथी लोकनीति पर एक लिखित परिसंवाद शुरू करेंगे।]

लोकनीति

(१) लोकशक्ति द्वारा समस्याओं का समाधान।

(२) लोकशक्ति द्वारा समाज-परिवर्तन।

(३) कम-से-कम प्रशासन और अधिक-से-अधिक अनुशासन के आधार पर समाज की व्यवस्था।

(४) लोकनीति का साध्य : वास्तविक लोकतन्त्र।

आज ही राज्य-संस्था का अन्त करना, संसदीय संस्थाएँ भंग करना, राजनीतिक पक्षों का विसर्जन करना लोकनीति का अभिप्राय हरगिज नहीं है।

आज परिस्थिति क्या है ?

(१) पक्षाधारित राज्य-व्यवस्था है। पक्ष सत्ता के द्वारा लोकहित करना चाहते हैं। अतः वे लोकाभिमुख नहीं हैं। सत्ताभिमुख हो गये हैं। पक्ष जनता से और देश से बड़े बन गये हैं। पक्ष जाति-भेद, भाषा-भेद तथा अन्य संकीर्णताओं के कारण खोखले हो गये हैं। पक्ष तथा सरकार का ध्यान लोकशक्ति जगाकर वास्तविक लोकतन्त्र के निर्माण की ओर नहीं है।

(२) संसदीय और लोकतान्त्रिक संस्थाओं के मर्यादा-रक्षण की परवाह किसी को भी नहीं। उनको तोड़ने का कार्यक्रम होता, तो

बात समझ में आती। वह न होते हुए भी इन संस्थाओं की मर्यादा-भंग हो रही है।

(३) जनता निष्क्रिय है। अन्याय के प्रतिकार का साहस एवं शक्ति जनता में नहीं हैं। लोकतन्त्र का अर्थ सरकार सब कुछ करे, राजनीतिक पक्ष सब कुछ करें, हमको अपने प्रयत्नों से कुछ करने की जरूरत नहीं, ऐसा वह मानती है।

(४) जनता मतदान के अधिकार का आशय जानती नहीं। 'इन्टेग्रिटी ऑफ वोट' मत देने की ईमानदारी लोकतन्त्र का प्राण-तत्त्व है, इसका मतदाता को बोध नहीं। लालच से वोट बेचना, डर के मारे उसका अपहरण होने देना मामूली बात हो गयी है।

(५) लोकतन्त्र के संरक्षण के लिए जन-आन्दोलन शान्तिमय होने चाहिएँ, इसका भी भान नहीं है।

(६) स्वतन्त्रता का उपयोग करने के लिए संयम तथा अनुशासन से काम करना चाहिए, इसका बोध नहीं है।

कहाँ से शुरू करें ? क्या करें ? सरकार क्या करे ?

(१) फौज तथा पुलिस का उपयोग कम-से-कम किया जायगा, यह संकल्प करे।

(२) जहाँ इनका उपयोग करना पड़ेगा, वहाँ बिना माँगे जाँच कराने का संकल्प करे। यह नियम निरपवाद हो।

(३) कोई-न-कोई पक्ष सरकार बनाता है, लेकिन सरकार उस पक्ष की नहीं, प्रान्त की, प्रदेश की है; यह स्मरण रहे।

(४) सरकार किसी भी समस्या को अपने पक्ष की निगाह से न देखे। सम्पूर्ण प्रदेश और जनता के हित की दृष्टि से उसका विचार करे।

(५) राष्ट्रीय समस्याओं का विचार पक्ष की भूमिका से कदापि न हो। जब-जब ऐसी समस्याएँ उपस्थित हों, तब-तब उनके विचार

के लिए सर्वपक्षीय एडहॉक कमिटियाँ कायम की जायँ और उनका निर्णय प्रमाण माना जाय।

(६) स्थायी राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए पार्लमेंट की सर्वपक्षीय स्टैंडिंग कमिटियाँ हों। उन कमेटियों को रिपोर्ट पर जब संसद में विचार हो, तो पक्ष के 'व्हिप' (निर्देश) का प्रयोग न किया जाय।

राजनीतिक पक्ष क्या करें?

(१) लोकतंत्र, लोकतंत्रात्मक संस्थाओं तथा संसदीय संस्थाओं की प्रतिष्ठा कायम करने का संकल्प करें।

(२) सर्वपक्षीय समिति कायम करके लोकतंत्र के ऐसे कौन से मूलभूत मूल्य हैं, जिनका संरक्षण अपने कार्यक्रमों द्वारा सबको करना चाहिए, इसका निश्चय करें।

(३) लोकजीवन की ऐसी कौनसी मर्यादाएँ हैं, जिनका संरक्षण आपस की स्पर्धा और संघर्ष में भी सब पक्षों को करना चाहिए, इसका निश्चय करें।

लोकजीवन की मर्यादाएँ

(१) किसी भी व्यक्ति की जान या इज्जत को खतरा पैदा न किया जाय।

(२) 'पब्लिक प्रॉपर्टी' (सार्वजनिक सम्पत्ति) का नुकसान नहीं किया जाय।

(३) आन्दोलन चाहे जिस समस्या के विषय में क्यों न हो, उसमें से लोकशक्ति कैसे बढ़ेगी, जनता का आत्म-प्रत्यय कैसे बढ़ेगा, इस तरफ ध्यान देना होगा।

(४) राष्ट्रीय प्रश्न कौन से और पक्षीय प्रश्न कौन से, इसका विवेक करके सर्वपक्षीय समिति देश के सामने अपने परिणाम रखे। राष्ट्रीय प्रश्नों पर सम्मिलित विधायक कार्यक्रम बनाये।

(५) किसी संसद् या विधान-सभा के बहुमत अथवा एकमत से भी देश की एकता, अल्पसंख्यकों के अधिकार तथा स्त्रियों की स्वाधीनता के खिलाफ प्रस्ताव नहीं हो सकेगा, ऐसा आश्वासन जनता को दिया जाय। इन मर्यादाओं को जिस पक्ष के सदस्य तोड़ेंगे, वह पक्ष पहले उन व्यक्तियों को धिक्कारे।

(६) यदि जन-आन्दोलन में किसी पक्ष के सदस्य शान्ति-भंग करते हैं, तो उस आन्दोलन के नेता एवं पक्ष के नेता पहले उसे अपनी जिम्मेवारी समझ कर घटना की निन्दा करेंगे।

(७) यदि गोली चली, तो जिस पक्ष की सरकार हो, वह पक्ष पहले उसकी जाँच की माँग करे।

(८) चुनावों में 'करप्ट प्रैक्टिस' (भ्रष्टाचार) जिस पक्ष के व्यक्ति करेंगे, वह पक्ष उस व्यक्ति को धिक्कारे।

(९) 'रिप्रेजेंटेशन' याने प्रतिनिधित्व और 'कैंडिडेचर' याने उम्मीदवारी में फर्क है। उम्मीदवार पक्ष का होता है या स्वतन्त्र होता है। प्रतिनिधि सबका होता है। अपने-अपने क्षेत्र के प्रतिनिधि बनने की कोशिश सब करें।

(१०) समस्या का विचार क्षेत्र के लोगों की दृष्टि से सब प्रतिनिधि करें।

(११) 'कांस्टिट्युएन्सी' याने निर्वाचन-क्षेत्र का निर्माण पक्षों के या उम्मीदवारों के जीतने-हारने की दृष्टि से न किया जाय। मतदाता की सुविधा की दृष्टि से उसका विचार सब पक्ष करें।

जनता क्या करे ?

(१) राजनीतिक पक्षों के लिए एक 'कोड ऑफ कंडक्ट' (आचार-संहिता) तय करके उनके सामने रखे।

(२) तोड़-फोड़, सम्पत्ति की बरबादी, संसदीय संस्थाओं का मर्यादा-भंग तथा हिंसा का उपयोग, ये सब लोकतंत्र के लिए

विघातक हैं। इसलिए इनको साफ शब्दों में धिक्कारे। कोई इनका प्रयोग करते हैं। तो उनसे असहयोग और प्रतिकार करे।

(३) चुनावों में गलत आदमी को यदि कोई पक्ष खड़ा कर देता है, तो उस पक्ष में श्रद्धा रखने वाले मतदाता उसका खुले तौर से निषेध करें।

(४) जो काम लोकशक्ति से हो सकते हैं, उन्हें राज्य को न सौंपने का सत् प्रयत्न करे।

(५) आर्थिक स्वार्थों पर अधिष्ठित पक्षों की आवश्यकता समाप्त करने का संकल्प करे।

(६) नागरिक एक-दूसरे के संरक्षण की जिम्मेवारी अपनी समझें। इस तरह राजनीति घटेगी, लोकनीति बढ़ेगी।

[भूदान-यज्ञ, ३१ अक्टूबर,' ५८]

विचार-मंथन हो, आचार-संघर्ष नहीं

मेरा मतलब यह नहीं कि भिन्न-भिन्न विचारों को हम छोड़ ही दें। विचार भिन्नता का उपयोग भी है। विचार-मंथन जरूर होना चाहिए। आचार-संघर्ष न होना चाहिए। मंथन से नवनीत निकलता है, मक्खन निकलता है, ऐसा आपसी विचार-मंथन बहुत जरूरी चीज है। संघर्ष से अग्नि पैदा होती है, जो कि दानवी वस्तु है, इसलिए संघर्ष आचार में नहीं आना चाहिए।

—विनोबा

ये बुनियादी सवाल

—विमला

[१-५ दिसम्बर ५९ तक बलरामपुर मित्रवृन्द की सालाना बैठक हैदराबाद में करने का सोचा गया है। इस बैठक में राष्ट्रीय तथाअन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में सर्वोदय-दृष्टि का योगदान कैसा हो, यह खास तौर से विचारणीय मुद्दा है। सुश्री विमला बहन ने इन बैठक के सामने कुछ बुनियादी सवाल प्रस्तुत किये हैं।] —सं० 'भूदानयज्ञ'

जहाँ तक अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का प्रश्न है, मैं समझती हूँ कि १९४८ के बाद सर्वोदय-विचारधारा के, अर्थात् अहिंसा के उपासकों के लिये 'नेशनल कॉन्टेस्ट' या 'नेशन' जैसी चीज नहीं रह गयी। जब तक गुलाम थे, 'राष्ट्र' की भावना तथा 'राष्ट्रीय' और 'अन्तर्राष्ट्रीय' इस भेद के लिए अवकाश था। आजादी के बाद हमारे सामने सारी समस्याएँ वैश्विक समस्याओं के रूप में उपस्थित हैं। किसी भी राष्ट्र का कोई भी मामला अब 'घरेलू' हो नहीं सकता। विज्ञान ने जब दुनिया को छोटी इकाई में Compact unit में बदल दिया तो मानवीय सम्बन्धों में से सब प्रकार की दीवारें—देश, धर्म, वैचारिक, सम्प्रदाय इत्यादि की—ढह जानी चहियें।

विश्व मानव का एक विशाल परिवार है, इस प्रत्यय के साथ अब हर एक समस्या को देखना होगा। हमारे लिये कांगो की समस्या अपनी 'घरेल' समस्या है। चीन, रूस के विचारों में, एवं राजनीति में, पड़ी हुई दरारों को समझना हमारा काम है। चीन, भारत के बीच आये हुए तनाव को समझ कर उसके निराकरण का अहिंसक हल खोजना हमारा धर्म है। तिब्बत अन्याय के प्रतिकार का हल खोज सके, उसकी अहिंसक प्रतिकार की क्षमता बढ़े, इसलिए उसकी मदद करना भी हमारा दायित्व है। रूस व अमेरिका सह-अवस्था को मानते हुए तथा आणविक निरस्त्रीकरण

की नितान्त आवश्यकता को समझते हुए भी निरस्त्रीकरण की दिशा में अग्रसर होने में क्यों झिझक रहे हैं ? इसकी वैज्ञानिक मीमांसा करके भारत 'युनिलेटरल डिस् आर्मामेन्ट' जल्द से जल्द करे—यह आवाज़ बुलन्द करना और जनमत को उस दिशा में सचेतन करना हमारा ही दायित्व है।

जहाँ तक आपके उठाये हुए दूसरे सवालों का सम्बन्ध है, मेरा ख्याल है कि अहिंसा की शक्ति को क्रियाशील कैसे बनाया जा सकता है ? और राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए अहिंसा की शक्ति का—संगठित शक्ति का—विनियोग कैसे हो सकता है—इसका अन्वेषण शीघ्रातिशीघ्र करना होगा। इन प्रश्नों के स्थायी हल तथा हल निकालने के साधन व तरीके विनोबाजी ने हमारे सामने रखे हैं। उन साधनों को आज़माते हुए वे आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन उन साधनों का एवं तरीकों का प्रयोग करते हैं हम मानवीय समाज में। वह समाज एक चेतन शक्तियों का समाज है। उसमें अहर्निश स्थित्यन्तर होता है। आज का सन्दर्भ कल तक ठहरता नहीं। कल का परसों तक ठहरेगा नहीं।

तीसरी बात है—"संगठन" अहिंसा के विकास का माध्यम कैसे बन सकता है। इसकी 'Research' हमें करनी होगी। Technique of non-violent Organisation आज उपलब्ध नहीं है। उस प्रक्रिया का विकास करना जरूरी है। व्यापक संगठन द्वारा सामूहिक प्रयत्न किये बिना यदि आमूलाग्र समाज-परिवर्तन सम्भव नहीं है, तो व्यापक संगठन में पारिवारिकता कैसे उभर सकेगी ? परस्पर सम्बन्ध हार्दिक तथा आत्मीयता के कैसे रह सकेंगे ? अनुशासन और नियन्त्रण की जगह स्नेह और सहयोग, स्वयंस्फूर्त सहयोग, ये सामूहिक प्रयत्नों के insentive और motive force

किस प्रकार बनेंगे ? केन्द्रित आर्थिक संयोजन की जगह विकेन्द्रित जनाधार संगठित आन्दोलन की बुनियाद किस प्रकार बनेगा ? संगठन में rigidity न हो, इसके लिये क्या करना होगा ? इन विविध पहलुओं पर चिन्तन-मनन करना नितान्त जरूरी हो जाता है। [भूदान-यज्ञ ७-१०-६०]

श्रद्धा, व्यक्ति और संघ

—दादा धर्माधिकारी

हम में अन्धश्रद्धा न हो, लेकिन गहरी श्रद्धा जरूर हो। हमारे समाज में वह गहरी श्रद्धा है। वह न होती तो जितना काम हुआ वह भी न हो पाता।

पहले व्यक्ति पर श्रद्धा होती है, फिर वह विचार की तरफ बढ़ती है। वह एक प्रक्रिया है। संघ जो बनता है वह दो प्रकार का होता है।

(१) उन लोगों का संघ बनता है जिनका एक-दूसरे पर व्यक्तिगत प्यार बहुत होता है।

(२) उन लोगों का संघ बनता है, जिनमें प्यार भी है और जो समझते हैं कि धर्म के लिए हमें इकट्ठा होना जरूरी है। ये दोनों बातें साथ रहते हुए काम करने के लिए जरूरी हैं। कहा गया है कि वह झूठा है जो कहता है कि मैं भगवान् से प्यार करता हूँ, लेकिन जो अपने भाइयों से प्यार नहीं करता। जब वह उन भाइयों से प्यार नहीं करता जिन्हें सामने देखता है तो वह उन भगवान् से प्यार कैसे करेगा जिन्हें कभी प्रत्यक्ष देखा नहीं।

परस्पर प्यार के लिए यह जरूरी है कि सम्मिलित त्याग और सम्मिलित पराक्रम के कार्यक्रम भी उठाये जायें, जिनमें साहस भी हो। [भूदान यज्ञ-११ मार्च '६०]

लोकनीति और महिलाएँ

—विमला

[बम्बई में सन् १९६० में कॉरपोरेशन के जो चुनाव हुए वे लोकनीति के आधार पर हों—इस दिशा में विमला बहन ने अनेक महिला संस्थाओं में विचार प्रकट किये थे। ये विचार संक्षेप में हम यहाँ दे रहे है, जिससे आगामी आम चुनाव के वक्त महिलायें अपने दायित्व को समझ सकेंगी।—सम्पादक-'भूदान-यज्ञ'–९-२-६२]

हिन्दुस्तान में अगर लोगकतन्त्र को सफल बनाना है, तो महिलाओं को जागृत होना चाहिए। देश की आधी जनसंख्या महिलाओं की है। इनमें से अधिकतर गाँवों में रहती हैं और पढ़ना-लिखना नहीं जानतीं। अतः अगर आजादी की रक्षा करनी है तो महिलाओं को अपनी जिम्मेदारियों का भान होना चाहिये।

हिन्दुस्तान में ऐसा माना गया है कि इस देश में धर्म की रक्षा स्त्रियों ने की है। ईश्वर के प्रति स्त्रियों का सहज अनुराग रहता है। स्नेह, करुणा आदि उच्च मूल्यों का दर्शन भी स्त्रियों में ज्यादा दिखाई देता है। लेकिन साथ ही इस देश में यह भी भावना व्याप्त है कि स्त्री का शरीर प्राप्त होना ठीक नहीं है। इससे स्त्रियों में आत्मगौरव की भावना क्षीण होती है। स्वतन्त्रता के बाद स्त्रियों को सहजीवन की समानता का अधिकार मिला है। उसका उपयोग निर्भयता से अपने आत्मगौरव की रक्षा के लिए करना चाहिये।

लोकशाही को दृढ़ आधार पर खड़ी करने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में गरीबी और अमीरी का अन्त किया जाय। जब तक समाज में झूठ, लूट और घूसखोरी चलेगी, तब तक समाज

न्यायपूर्ण और शोषणरहित नहीं बन सकेगा। इस दिशा में स्त्रियाँ एक विशेष काम कर सकती हैं—वह यह है कि अपने घर में अन्याय और पाप की कमाई को न आने दें। अगर पुरुष इस प्रकार की कमाई में लगे हों तो उन्हें रोकें। साथ ही स्त्रियों को गरीबों के प्रति विशेष चिन्ता रखनी चाहिये। इसके लिये समाज में मातृत्व और वात्सल्य का फैलना जरूरी है। पावित्र्य के वातावरण से भी समाजशुद्धि हो सकती है। राजनीतिक पक्षों का काम था कि वे लोकशाही को स्थिर करें, लेकिन वे ऐसा नहीं कर पाये हैं। वे सत्ता की स्पर्धा में बह गये हैं। अब यह काम स्त्रियाँ अच्छी तरह कर सकती हैं। आध्यात्मिक मूल्य व्यवहार में लाये बिना सच्ची लोकशाही नहीं चल सकती। लोकनीति अपनाने के लिये स्त्रियाँ आवाज़ बुलन्द करेंगी तो सारी सामाजिक गन्दगी दूर होगी अतः यह आवश्यक है कि स्त्रियाँ राजनैतिक दलबन्दी से परे होकर अब सामाजिक कार्यों के प्रति उदासीनता छोड़ कर लोकशाही की जिम्मेवारी उठाने के लिए अभिक्रमशील हों।

स्त्रियाँ पुरुषों की लाज रखें !

हमारे समाज की रचना पहले से ही ऐसी बनी है कि बाँयी ओर स्त्रियाँ और दाहिनी ओर पुरुष रहते थे। आज समाज की स्थिति उलटी हो गयी है। सच पूछिये तो अब स्त्रियों द्वारा समाज को अपने हाथ में लिया जाना चाहिये। उन्हें 'वामपक्षी' होना चाहिये और समाज की गलतियाँ सुधारते हुए समाज को आगे ले जाना चहिये।

—विनोबा

राजुरी, ६-७-५८

भूदान-साथियों के प्रति

—विमला

[शिवकुटी, मा० आबू से लिखे ५ सितम्बर' ६३ के पत्र से]

"आबू पहाड़ी पर मैं १ फरवरी १९६३ को आयी। यहाँ की आबादी दस हजार है। भारत के सभी राज्यों के लोग मौजूद हैं, क्योंकि यहाँ survey of India का दफ़्तर है। सेन्ट्रल पुलिस ट्रेनिंग कॉलेज भी है, मिशनरियों के चलाये दो स्कूल हैं : लड़कों के लिये सेन्ट मेरी और लड़कियों के लिये सोफिया। यहाँ भारत, सीलोन, अफ्रीका के अमीर भारतीयों के लड़के-लड़कियाँ पढ़ते हैं। अवाम के लिये वाल्टर हाईस्कूल है। एक राजकीय कन्या मिडिल स्कूल भी है।"

"यहाँ पर श्री राम-कृष्ण आश्रम है, जिसमें अनुभववृद्ध स्नेहशील स्वामी जपानन्द जी रहते हैं। शंकराचार्य मठ है, जिसमें एक तेजस्वी, मेधावी युवक संन्यासो स्वामी ईश्वरानन्द रहते हैं। वैष्णवों का एक बड़ा सा रघुनाथ मन्दिर है। जैनों के दिलवाड़ा मन्दिर तो विश्वविख्यात हैं हो।"

"एक खादी ग्रामोद्योग सहकारी संघ है। उसे कुछ ध्येयवादो होनहार युवक एकाध वर्ष से चला रहे हैं।"

"अब तक मेरे दस प्रवचन हुए : कुछ युवक-शिबिरों में हुए, कुछ संस्थाओं में। भारत के विभिन्न राज्यों से तथा विदेशों से यहाँ आकर जो मेरे साथ रह गये, उन अतिथियों की संख्या तीस होगी। किसी न किसी प्रश्न की चर्चा करने जो आये विचार-विनिमय कर गये, उनकी 'intervicws' की संख्या औसत ८० है। लिखना-पढ़ना जारी रहता ही है।

"मैं फरवरी १९६४ तक यहाँ हूँ; बाद में क्या होगा इसका पता नहीं है। अप्रेल में योरोप जाना है।"

[भूदान-यज्ञ २५-१०-६३ में प्रकाशित]



मैं हूँ विधाता की एक कविता
मैं हूँ छन्दों का निज छन्द।
आकाश जिसने सँवारा
मैं हूँ वह निरालम्ब अवकाश।
काल है जिस को माया-लीला
मैं हूँ वह अनन्त अकाल।
रूप में जो निखर उठा,
मैं हूँ वह रूपातीत स्वरूप।
पञ्चप्राणों के साज़ पर चेतना गा उठी,
मैं हूँ वह मधुर गीत।
मृण्मय पर चिन्मय ने हाथ फेरा
मैं हूँ वह सहज स्पन्दन।
विश्वचेतना अकारण झंकृत हुई,
मैं हूँ वह अनायास कम्पन॥

—विमला

[मौन के अनुनाद]

एकादश व्रतों में सर्वोदय

—विमला—

सत्य—भूतमात्र की एकता ।

अहिंसा—एकता की अनुभूति की सामूहिक उपासना ।

अस्तेय—शोषणरहित अर्थ-व्यवस्था ।

अपरिग्रह—सामूहिक स्वामित्व—अर्थात्
वैयक्तिक स्वामित्वभाव का निरसन ।

ब्रह्मचर्य—स्त्रीपुरुषभाव से ऊपर उठ कर मनुष्यभाव से
व्यवहार करना ।

शरीरश्रम—श्रमाधारित समाज-व्यवस्था; श्रम सौदे की चीज
नहीं; श्रम का मूल्य नहीं हो सकता; जैसे
इज्जत का मूल्य सम्भव नहीं ।

अस्वाद—मानवमात्र के स्नेह में से सहज स्रवने वाला
मधुर संयम ।

सर्वत्र भयवर्जन—विश्वमानवता ।

सर्वधर्म-समभाव—बुद्धियोग = विचारयोग । विचार अपौरुषेय
होता है, ग्रन्थबद्ध या पन्थबद्ध नहीं, विभूतिबद्ध नहीं;
आकाशवत्, अनाक्रामक, सर्वव्यापी विचार की सत्ता का
भान ही सर्वधर्म-समभाव लाता है ।

स्वदेशी—समाज की इकाई—ग्राम-परिवार;
ग्रामों का स्वावलम्बन, परस्परावलम्बन,
सर्वसम्मति पर आधारित शासन याने लोकनीति ।

स्पर्शभावना—आत्मा की एकता का भान,
शरीर के मिथ्यात्व का ज्ञान ।

इस प्रकार एकादश व्रतों में सर्वोदय
अर्थात् आज का युगधर्म समाया है ।

['भूदानयज्ञ'—२८-१२-१९५६ से]